THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_180176
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 3~~00~~ 954 / P19 H   Accession No. H 2355

Author पणिक्कर, के. एम.

Title हिंदू समाज निर्णय के द्वार पर 1958

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिंदू समाज निर्णय के द्वार पर

के. एम. पणिक्कर लिखित :

भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण (प्रेस में)

कूटनीति के सिद्धांत और व्यवहार (प्रेस में)

हिंदूसमाज निर्णय के द्वार पर

लेखक

के. एम. पणिक्कर

एशिया पब्लिशिंग हाउस
बम्बई – कलकत्ता – नयी दिल्ली – मद्रास

मुद्रणाधिकार, १९५६

प्रथम बार : अगस्त १९५६

अंग्रेजी में :

प्रथम संस्करण : जनवरी १९५५

द्वितीय संस्करण (संशोधित) : अप्रैल १९५६

पी. एस. जयसिंघे द्वारा एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई १ से प्रकाशित और पी. एच. रामन द्वारा असोशिएटेड एडवरटाइजर्स एंड प्रिंटर्स लिमिटेड, बम्बई ७ से मुद्रित.

अनुच्छेद १५ (१)	केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या उनमें से किसी के आधार पर राज्य किसी नागरिक के प्रति भेदभाव नहीं बरतेगा।
अनुच्छेद १७	"अस्पृश्यता" का उत्सादन किया जाता है और किसी भी रूप में उस पर आचरण करना निषिद्ध है। "अस्पृश्यता" से उत्पन्न किसी निर्योग्यता को प्रवर्तित कराना कानून के अनुसार एक दंडनीय अपराध होगा।
अनुच्छेद ३८	राज्य यथाशक्ति प्रभावकारी ढंग से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की उपलब्धि और सरक्षा द्वारा लोक मंगल की वृद्धि करने का प्रयास करेगा जिसमें न्याय--सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक--राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को सराबोर किये रहेगा।

—भारतीय संविधान से

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
उपोद्घात	१
हिंदू सामाजिक संस्थाएं	६
अस्पृश्यता	२५
हिंदू परिवार में स्त्रियों का स्थान	३०
रूढ़ि का बोलबाला	४०
विधान और समाज	४९
नयी शक्तियों से मुठभेड़	६४
लक्ष्य की ओर	८१
धर्म और समाज	८८
उपसंहार	९५
टिप्पणियां	१०५

। चिह्नवाले शब्दों के सम्बंध में पुस्तक के अन्त में संक्षिप्त टिप्पणियां दी गई हैं। —प्रकाशक

उपोद्घात

भारतीय स्वतंत्रता के प्रादुर्भाव से हिंदूसमाज के सामने एक नयी स्थिति पैदा हो गयी है, जो उसकी चिरकालीन संस्थाओं को चुनौती दे रही है। भारत में ब्रिटिश शासन के समय, चेतना की जो लहर फैली थी उसका लक्ष्य मूलतः हिंदूधर्म था। लोगों को यह भ्रम हो गया था कि उनकी प्रगति के मार्ग में बाधक उनका सामाजिक संगठन नहीं, प्रत्युत हिंदूधर्म है। विदेशी समालोचक भारत में प्रचलित रूढियों ही को हिंदूधर्म मान बैठे थे और इस धारणा से अभिभूत होकर यह सिद्ध करने की ओर झुक पड़े थे कि अपना मत-परिवर्तन करके दूसरे सामाजिक-धार्मिक संगठनों की गोद में चले जाने ही से हिंदुओं की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। एक बार तो इस धारणा ने उच्च कोटि के हिंदू विचारकों के मस्तिष्कों तक को झकझोर दिया। स्मरण रहे, विगत शताब्दी के अधिकांश सुधारवादी आंदोलन कट्टरवादी हिंदूमत के विरुद्ध चलाये गये थे। उनकी प्रेरणा का स्रोत था कि हिंदूधर्म का परिमार्जन-परिष्कार करना आवश्यक है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और उसी प्रकार के अन्य सदुद्देश्यपूर्ण आंदोलन, जिन्होंने हिंदूसमाज सुधार का बीड़ा उठाया था, समय बीतने पर अपना मुख्य लक्ष्य भूल गये और उन्होंने धर्म के पुनरुद्धार के नाम पर स्वयं अपना संगठन कर लिया। इस प्रारम्भिक भूल के दो महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। पहला, इससे हिंदूधर्म की प्रसुप्त शक्तियां जाग उठीं, जिन्होंने उसकी संस्थाओं, चाहे वे भली हों या बुरी, की रक्षा के लिए उसके प्राचीन शस्त्रागार के सभी शस्त्रास्त्र मोरचे पर लगा

दिये। जो रीति-नीति न तो धर्म-सम्मत थी, और न जिसका अनुमोदन परम्परा ही करती थी, वह मौलिक मान ली गयी। उदाहरणार्थ, विधवाओं के आत्मबलिदान की प्रथा देश में व्यापक रूप से कभी प्रचलित नहीं थी, और निःसंदेह इसे धर्म का समर्थन भी प्राप्त नहीं था, फिर भी अपने समय में इसके पृष्ठपोषक निकल आये। दूसरा, जब तक समाज-सुधारक दूसरे धर्मों की विचारधारा और रीति-नीति की ऊंचाई तक उठ सके तब तक इसने हिंदूसमाज का भीतरी पुनर्गठन तक दुष्कर बना दिया।

हिंदूधर्म पर जो आक्रमण किया गया था वह निःसंशय विफल हो गया है। उधर ईसाई-मिशनों के अत्यधिक उत्साही कार्यकर्ताओं तक ने भारत को धर्म-परिवर्तन द्वारा ईसाई-सम्प्रदाय में मिला लेने की आशा छोड़ दी है। इधर धार्मिक विचारों में बड़े पैमाने पर सुधार करने के उद्देश्य से जो आंदोलन हिंदू-धर्म में भीतर से चल पड़े थे, वे भी उसी तरह पूर्ण असफल हो चुके हैं। अतः हिंदूधर्म इस संघर्ष में विजयी हुआ है और आज उसकी पद-प्रतिष्ठा को कहीं से कोई खतरा दिखायी नहीं देता है। लेकिन हिंदू सामाजिक संगठन की समस्या स्थूलरूप से ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। हां, उसमें इतना परिवर्तन अवश्य दीखता है कि अब यह मान लिया गया है कि उसका हल ढूंढ़ने के लिए धार्मिक व्यवस्था का द्वार खटखटाने की जरूरत नहीं। हिंदूसमाज ही का जड़-मूल से पुनर्गठन करना अभीष्ट है, हिंदूधर्म का नहीं।

मैं जिस समीक्ष्य विषय का प्रतिपादन अगले पृष्ठों में करूंगा, उसका उल्लेख संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :

(१) हिंदुओं का सामाजिक संगठन उस अनियंत्रित विकास का परिणाम है, जो ऐतिहासिक घटनाओं

के कारण अपने प्रारम्भिक चरणों ही में अवरुद्ध हो गया था;

(२) सामाजिक चेतना का जो छिन्नभिन्न रूप देखने में आता है, वह हिंदूसमाज की एक विशिष्ट विलक्षणता है, और यह छिन्नभिन्नता अविभक्त-परिवार प्रणाली और वर्ण-व्यवस्था नामक दो सहोदर-संस्थाओं पर आधारित है ;

(३) हिंदू जनता की संस्थाएं उनके धर्म में गुंफित नहीं हैं और वे पूर्णतः कानून और रूढि पर आधारित हैं, और इसलिए वे धर्मनिरपेक्ष हैं ;

(४) कानून और रूढि पर आधारित होने से, विधान द्वारा उनका निरंतर पुनर्विवेचन और रूपांतर करना इष्ट है।

तदनंतर इस पुस्तक में विवेचना का मूल विषय यह है कि हिंदुवाद की राजनीतिक शक्ति का अधःपतन हो जाने पर, हिंदू जनता के लिए, दीर्घकाल तक विधाननिर्मात्री सत्ता का अभाव बना रहा और इस कारण वह पथ-भ्रष्ट हो गयी। इसके अतिरिक्त ईश्वरोक्त विधान के आधार पर संगठित एक अधिक प्रबल समाज (इस्लाम) के ६०० वर्ष से भी अधिक समय के सह-अस्तित्व ने हिंदुओं की उन संस्थाओं और रूढियों को दृढ़ कर दिया जिन्हें इस्लामी परिकल्पना की नोंकझोंक में, वे जनसमुदाय पवित्र समझने लगे जिनमें समाज विभाजित हो गया था। इन प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि हिंदू जनता का पुनरुत्थान उसकी सामाजिक संस्थाओं के केवल धर्मनिरपेक्ष रूप पर बल देने और उसे ऐसा

राष्ट्रीय विधान प्रदान करने से ही संभव हो सकता है, जो धीरे-धीरे उसे छिन्नभिन्न जनसमुदायों के अपरिपक्व लोगों की श्रेणी से ऊंचा उठाकर एकल हिंदूजाति में परिणत कर देगा।

इसलिए हिंदुओं के सामने जो समस्या है उसका सूत्ररूप में वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है: उनके सामाजिक मूल्यों का पुनर्विवेचन तथा उनकी संस्थाओं का पुनर्गठन किया जाए; और, उनका विधान और रूढि एक ओर तथा धर्म दूसरी ओर – इन दोनों पक्षों के बीच अलगाव बरता जाए। इस त्रिसूत्रीय समस्या के विविध अंगों का आपस में घनिष्ट सम्बंध है, क्योंकि हिंदुओं का कट्टरपंथी दल यह कहता है कि प्रत्येक हिंदू संस्था को, चाहे समय की गति को देखते हुए वह अविभक्त-परिवार प्रणाली की भांति कितनी ही प्रतिगामी क्यों न प्रतीत होती हो, और प्रत्येक हिंदू रूढि को, चाहे पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति में भाग पाने से वंचित रखने के कारण वह कितनी ही उपहासास्पद क्यों न बन गयी हो, बिना 'ननु, नच' धर्म का आश्रय उपलब्ध है और विधानमंडलों को उनमें हाथ न डालना चाहिए। सौभाग्य की बात है कि ब्रिटिश शासन-काल में भी कट्टरपंथियों के इस दावे को हिंदुओं के उस अधिक प्रगतिशील भाग ने आड़े हाथ लिया था, जो १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में कम-से-कम राजा राममोहनराय के जमाने से, धर्मनिरपेक्ष विधान द्वारा, सामाजिक संस्थाओं और रूढियों में परिवर्तन करने के लिए राज्य के अधिकार और कर्त्तव्य का उत्तरोत्तर समर्थन करता आया है।

भारतीय संविधान ने सामाजिक विषयों के बारे में कानून बनाने के अपने अधिकार की निर्भीकतापूर्वक असंदिग्ध शब्दों

में औपचारिक घोषणा की है। इतना ही नहीं, अस्पृश्यता-निवारण को इसके मूल-अधिकारों में सम्मिलित किया गया है, जो सुधार के नाते हिंदूमत का कायापलट कर देगा। शक्ति के रक्षा-कवच से नख-शिख तक सुसज्जित विधाननिर्माता राज्य का अभ्युदय हो चुका है, जिसने विधानांगीय कार्यकलाप द्वारा सामाजिक अन्यायों को दूर करने के लिए अपने अधिकार की घोषणा और अपने कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा की है। यह वह निर्णाय की वेला है जिसके द्वार पर हिंदूसमाज खड़ा हुआ है।

हिंदू सामाजिक संस्थाएं

अपनी समस्या को उचित रीति से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हिंदूमत के सामाजिक ढांचे की समीक्षा की जाए। यह ढांचा वर्ण-व्यवस्था और अविभक्त-परिवार प्रणाली नामक दो संस्थाओं के स्तम्भों पर टिका हुआ है। धर्म की सीमा के बाहर, हिंदू जनता का जो कुछ भी अपनापन है उसका अटूट सम्बंध इन दो संस्थाओं से है। वास्तव में, इन्हीं संस्थाओं के कारण हिंदूजीवन का दूसरों से अपना पृथक् रूप दृष्टिगोचर होता है। वर्ण-व्यवस्था क्या है ? इसके व्यापक रूप को सभी स्वीकार करते हैं। जब हिंदू एक जाति के रूप में संगठित हो गये, तभी से इसने उनके मस्तिष्कों पर अपना आश्चर्यजनक रीति से दृढ़ अधिकार जमा लिया। अब तक, भीतर से इसकी जड़ खोदने और बाहर से इसे विनष्ट करने के जितने प्रयत्न किये गये हैं उनको व्यर्थ करने में इसने पूरी सफलता पायी है। फिर भी, अब तक कोई व्यक्ति इसकी परिभाषा संतोषजनक रीति से बताने में समर्थ नहीं हुआ है। कट्टरपंथी हिंदुओं का अभिमत है कि समाज की व्यवस्था ईश्वरोक्त और चातुर्वर्ण्य पर अवलम्बित है। ब्राह्मण. क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण हैं। उनके इस मत का प्रामाणिक स्रोत ऋग्वेद का वह सुविख्यात "पुरुषसूक्त" है, जिसमें उद्घोषणा की गयी है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, कटि से वैश्य और चरणों से शूद्र का आविर्भाव हुआ। किंतु, आदिकारण कुछ भी हो, यत्किंचित् विवेचन करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि चातुर्वर्ण्य की कल्पना केवल **तत्त्व-चिंतन** की एक शैली है, और वह सामाजिक व्यवस्था के तथ्यों पर किसी प्रकार भी आधारित नहीं है। हम यह

दिखाने का प्रयास करेंगे कि जिन तत्त्वदर्शियों ने, प्रारंभ में, समाज को एक समतल आधार पर, संगठित करके, खड़ा करने का स्वप्न देखा था, उन्हींने केवल इसका खाका खींचने के उद्देश्य से चातुर्वर्ण्य की काव्यमय कल्पना कर ली। हिंदू समाजशास्त्री अपने समाज को उस सांचे पर ढालना चाहते थे जिसमें वर्ण-आदर्शवाद कोरा काल्पनिक विषय अर्थात् सिद्धांतपक्ष बना रहे और व्यवहारपक्ष से उसका कोई सम्बंध न हो। यह बात इतिहास से सिद्ध की जा सकती है कि वास्तव में चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था कभी नहीं की गयी। यह सच है कि धर्म में शास्त्रोक्त पद्धतियों का विकास ज्यों-ज्यों होता गया, ब्राह्मण एक वर्ण के रूप में शेष लोगों से पृथक् हो गये। ब्राह्मणों को निःसंकोचरूप से, हिंदूसमाज की एकमात्र सुगठित जाति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि उनमें ब्राह्मणपन की एक सामान्य भावना पहले भी विद्यमान थी और अब भी है, फिर भी उनमें आज कम-से-कम १८०० मुख्य उप-जातियां और संभवतः कई हजार अन्य ऐसी उपजातियां पैदा हो गयी हैं जिनके वंश-क्रम का ठीक ठीक पता नहीं लगाया जा सकता है। ब्राह्मणों में इतनी अधिक उपजातियां या कुल देखकर, जिनकी बड़प्पन के लिए आपस में लागडाट बनी रहती है, यह कैसे कल्पना की जा सकती है कि उनमें भी कभी एकता रही होगी ? अस्तु, ब्राह्मण एक वर्ण है और अन्य वर्णवाले बिना किसी हिचकिचाहटके उसके इस रूप को स्वीकार करते हैं। ब्राह्मणों के पास शास्त्रोक्त पद्धतियों या संस्कारों की एक अपनी सामान्य निधि है, और प्रायः जीवन के प्रति उनका एक सामान्य दृष्टिकोण है। यह बात शेष तीन वर्णों के प्रति नहीं कही जा सकती है। उनके अस्तित्व की चातुर्वर्ण्य के भीतर पृथक् संगठित सत्ताओं के रूप में, कल्पना करनी बिल्कुल निर्मूल सिद्ध होगी।

सबसे पहले क्षत्रियों के बारे में विचार कीजिए। इनकी गणना तथाकथित योद्धा-वर्गों में की जाती है। इनका उद्भव ब्रह्मा की

भुजाओं से बताया गया है । यह सच है कि ऐतिहासिक काल में क्षत्रियों के नाम की कोई जाति न थी । कम-से-कम महापद्मनंद (ईसा पूर्व ४ थी शताब्दी) के काल से इतिहास में जिन राजकीय परिवारों का उल्लेख मिलता है वे सब अ-क्षत्रिय जातियों के थे । मौर्यवंश का शूद्र होना सभी को मालूम है । गुप्तवंशी सम्राट् वैश्य होने का दावा करते थे । भारशिव राजालोग ब्राह्मण थे । चौथी शताब्दी ईसापूर्व में नंद राजाओं के शासनकाल के बाद क्षत्रिय जाति कहां विलुप्त हो गयी ?

सन्निकट अर्वाचीन काल में क्षत्रिय होने का अभिमान करने वाले राजपूत लोग हैं । उनका यह दावा केवल उनके व्यवसाय पर निर्भर है । पर उदयपुर के सिसोदियाओं का, जो आज क्षत्रियों में **शिरोमणि** माने जाते है, आविर्भाव वस्तुतः ब्राह्मणों से बताया जाता है । इनके पूर्वजों में सबसे अधिक प्रतापी महाराणा कुम्भा हुए है, जिनके सम्बंध में अब जो शिलालेख मिलते है, उनमें उनके लिए 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया गया है । राष्ट्रकूट शब्द का अपभ्रंश राठौर है । राठौरवंश का मूलस्त्रोत दक्षिण की यही राष्ट्रकूट जाति है जो इतिहास में सबसे पहले दक्षिण भारत के पठार पर अवतीर्ण हुई थी । ईसा की आठवीं और नवमी शताब्दियों में इस राष्ट्रकूट जाति का दक्षिण से उत्तर को प्रयाण करने और वहां पहुंचकर राजपूत घराने में घुलमिल जाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जब कम-से-कम दो हजार वर्षों से वर्ण-व्यवस्था का नाम-निशान नहीं था तब जिन राजवंशों ने उन्नीसवीं शताब्दी में क्षत्रियत्व का बाना धारण कर लिया और जिन जातियों ने समाज में ऊंच होने की डींग मारनी आरंभ की उनके झमेले में यहां पड़ना आवश्यक नहीं।

इसी प्रकार, जाति की दृष्टि से वैश्यों की भी एक मनगढ़न्त परिभाषा है । जो जातियां अपने पुरखाओं से व्यापार और वाणिज्य का व्यवसाय अपनाती आयी हैं, वे वैश्य होने का दावा करती हैं। अन्यथा-

एक सुगठित रूप में वैश्य जाति नाम की कोई चीज देखने में नहीं आती है। जहां तक शूद्रों का सम्बंध है, उनमें हमेशा विविध प्रकार के लोगों का जमघट रहा है। यह जनसमूह हिंदू मर्यादा के भीतर पनपता रहा है और उसमें उन लोगों को प्रश्रय मिला है जो यज्ञोपवीत संस्कार से वंचित थे।

शूद्रों के बारे में वहां दो तथ्यों का उल्लेख किया जा रहा है, जो बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। पहला, गोदावरी नदी के दक्षिण तटवर्ती क्षेत्र की विशाल और शक्तिशाली जातियां हिंदूमत के ढांचे में पूरी तरह घुलीमिली नहीं थीं। वर्ण-क्रम के अनुसार उन्हें भले ही शूद्रों की श्रेणी में गिना जाने लगा था, किंतु वे फिर भी समाज में सर्वोपरि प्रतिष्ठा का उपभोग करती रहीं। उदाहरण के लिए, आंध्रप्रदेश के रेड्डी, तमिलनाड के वेल्लाल और मलाबार के नायर लोगों ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कभी स्वीकार नहीं की; और यद्यपि ब्राह्मण वर्ण-भेद की दृष्टि से उन्हें शूद्र के नाम से पुकारते थे फिर भी जातियों के रूप मे समाज में सदा उनका बोलबाला रहा और वे पौराणिककाल में उत्तर के क्षत्रियों की भांति ही सामाजिक प्रतिष्ठा से विभूषित बने रहे। दूसरा इस सन्निकट अर्वाचीन काल में यह विलक्षण बात देखने को मिलती है कि शूद्रों ने अनेक राजवंशों का सूत्रपात किया। निःसंदेह, बंगाल के पालवंशीय राजालोग शूद्र थे। मराठों के विशाल राजघरानों के बारे में आज कुछ भी विचार व्यक्त किया जाए, किंतु वे सचमुच ही राजपूतों के वंशज होने के अपने दावे को प्रमाणित नहीं कर सकते।

वास्तव में, बात यह कि वर्णचतुष्टय समाज की एक काल्पनिक व्यवस्था है। इस समाज का कलेवर अनेक आदिमजातियों, वंशों और परिवारों के परस्पर रच-पच कर मिल जाने से पूरा हुआ है। वर्ण-चतुष्टय समाजशास्त्र-सम्बंधी एक कपोलकल्पित कथा है। यद्यपि यह चातुर्वर्ण्य नितांत मनगढ़न्त है। फिर भी इसके आधार पर रचे गये

समाज की कल्पना से हिंदू जीवन ओतप्रोत है । हिंदुओं में जो अगणित उपजातियां दिखायी देती हैं, वे सब इन चार वर्णों ही में से किसी-न-किसी को अपना-अपना उद्गमस्थल मानती हैं । इस प्रकार, उन्होंने वर्णों की प्रमुख विचारधारा की परिधि के भीतर सिद्धांततः अपना निर्दिष्ट स्थान बना लिया है । इसलिए यह आवश्यक है कि इस वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांतों की समीक्षा की जाए ।

इस चातुर्वर्ण्य के सारभूत सिद्धांत ये हैं :

(१) जन्म के आधार पर अपरिवर्तनीय असमानता ;
(२) व्यवसायों का वर्गीकरण और उनमें विषमता;
(३) अपने निजी समुदाय के बाहर विवाह करने पर प्रतिबंध ।

'जन्मना' अर्थात् जन्म से मनुष्य के वर्ण का निर्णय हो जाता है । किसी **व्यक्ति** को अपना वर्ण छोड़कर दूसरे वर्ण में जाने के लिए कोई मार्ग नहीं है । इस दिशा में छोटी-छोटी संगठित जातियों के लिए स्थिति कुछ बदल चली है, जैसाकि हम आगे चलकर लिखेंगे । यदि किसी पुरुष का जन्म शूद्र के घर में होता है तो वह जीवन भर शूद्र ही बना रहेगा । उसे किसी शूद्रा ही से विवाह करना होगा और, जाति-सिद्धांत के अनुसार, उसे उदर-पोषण के लिए वही व्यवसाय चुनना पड़ेगा जो शूद्र के लिए निर्धारित किया गया है। ब्राह्मण सिद्धांतकारों ने अमिट **असमानता** के आधार पर जिस समाज की स्थापना की उसके अंतर्गत लोगों के बहुसंख्यक भाग को निम्न स्थिति स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा । उन्होंने यह छोटेपन का कलंक क्यों लगवा लिया और ब्राह्मण इस प्रकार के समाज की रचना किस न्याय के आधार पर कर सके, इन विषयों पर यहां विचार करने की

आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के विचारों पर संस्थाओं का कितना भारी प्रभाव पड़ता है, उसका यह सबसे अधिक ज्वलंत उदाहरण है।

इस प्रसंग में, यहां यह बताना आवश्यक है कि यद्यपि जन्म के आधार पर सामाजिक असमानता और विवाह-सम्बंधी निषेध आज भी प्रचलित हैं, फिर भी यह जान पड़ता है कि जाति के अनुसार व्यवसाय सीमित करने की चेष्टा कभी सफल नहीं हुई। जो प्राचीनतम साहित्य उपलब्ध है उससे पता चलता है कि ब्राह्मण ओषधि, शस्त्रास्त्र और प्रशासन से सम्बंधित व्यवसाय करते थे। बौद्ध ग्रंथ '**जातकों**' में ब्राह्मणों का उल्लेख कहीं कहीं व्यापारियों और आखेटकों के रूप में मिलता है आर. पी. मसानी ने कुश नामक एक क्षत्रिय राजकुमार का उद्धरण दिया है। '**जातकों**' की एक कहानी में वर्णन किया गया है कि यह राजकुमार क्रमशः कुम्हार, टोकरीवाले, माली और रसोइए के यहां काम सीखने के लिए गया। इसके विपरीत, वैदिक काल से लेकर बाद तक इस आशय के अनेक दृष्टांत मिलते हैं कि नीच से नीच जाति में पैदा होनेवाले पुरुषों ने उन व्यवसायों में हाथ डाला जिन पर सिद्धांततः अन्य जातियों का एकाधिपत्य समझा जाता था। जब भारत में महापद्मनंद और मौर्यवंशीय राजालोग सत्तारूढ़ हुए तब उनके पश्चात् कुछ सीमा तक अनिवार्य ही हो गया था जोकि शूद्रों में से और अनेक राजकीय परिवारों का आविर्भाव हुआ। आज भी भारत के बहुत से राजपरिवार आदिवासियों के वंशोद्भव हैं। किंतु उनमें से बहुतों ने क्षत्रियत्व आलिङ्गन कर लिया है या वे, कम-से-कम, उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा के अधिकारी होने का दावा करने लगे हैं। दक्षिण में, जहां निःसंदेह क्षत्रिय नहीं थे, वहां ब्राह्मणों ने शूद्र शासकों ही को, एक 'हेम-धेनु' से उनका प्रतीकात्मक पुनर्जन्म कराने के पश्चात्, द्वितीय श्रेणी का क्षत्रियत्व धारण करने की अनुमति दे दी।

यदि चातुर्वर्ण्य एक कपोलकल्पित कहानी – एक आध्यात्मिक रूपक से अधिक नहीं था, तो फिर यह क्या है जिसकी अतीत में

हिंदूसमाज पर इतनी गहरी छाप पड़ी और आज भी यहां उसका इतना बोलबाला है कि अन्य समाजों के बीच हिंदूसमाज अलग दिखायी देता है ? समाज को चार वर्णों में काल्पनिकरूप से विभाजित करने की बात जाने दीजिए। इस विभाजन ने क्या रूप धारण कर लिया और इसका क्या दुष्परिणाम निकला है, यह उससे भी अधिक विचारणीय विषय है। वर्णवाद का भीषण अभिशाप यह है कि हिंदूजाति अगणित उपजातियों में बंट गयी है, और इनमें से प्रत्येक उपजाति के भीतर भी टुकड़े पर टुकड़े हो गये हैं, जिनके कारण हिंदूजनता छोटी-छोटी इकाइयों में छिन्नभिन्न हो गयी है। पहले की जनगणना-विवरणी में **बड़ी** उपजातियों की संख्या तीन हजार तक बतायी गयी है, जो समाजशास्त्र की दृष्टि से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है। ये जातियां एकदूसरे से बिल्कुल बेलागलपेट हैं और उनमें से हरेक दूसरी से श्रेष्ठ होने का दावा करती है। उनके बीच सामान्यतः अंतर्जातीय विवाह और खान-पान के सम्बंधों की भी छूट नहीं है। इस प्रकार, सामाजिक जीवन में वे एकदूसरे से अनजान प्रतीत होती हैं।

उपजाति-पद्धति के चलन ने हिंदूजनता को इतने छोटे-छोटे जन-समुदायों में बांट दिया है कि उनमें एक सामान्य सामाजिक भावना का विकास करना भी असंभव हो गया है। वास्तव में, यह पद्धति समाज की कल्पना का विपर्यय है। मनुष्य ने बर्बर अवस्था से अपनी वर्तमान सभ्य अवस्था में पदार्पण करने के लिए जो मार्ग पार किया है, उसमें जगह-जगह की सामाजिक हलचल के क्षेत्र के विस्तार की कहानी छिपी हुई है, अथवा 'डर्कहीम' के शब्दों में वह सामाजिक सम्पर्कता और क्रियाकलाप के क्षेत्र के विस्तार का परिचायक है। आदिकालीन समाज में व्यक्ति का सम्बंध या तो परिवार तक सीमित था, या आदिमजाति तक। एक आदिमजाति के लोग एक ही प्रकार के चिह्न का प्रयोग करते थे। इससे उन्हें एक परिवार के रूप ही में ग्रहण किया

जा सकता है। मानव सम्यता की प्रगति विचार और क्रियाकलाप के सिद्धांत को उत्तरोत्तर व्यापक और विस्तृत बनाने पर निर्भर है। यह एक विश्वव्यापी नियम है। किंतु समाज ने अभी भारत में अपनी शैशव-अवस्था ही पार कर पायी थी कि उसमें उलटी गंगा बहाने का प्रयास आरंभ कर दिया गया। सामाजिक सम्पर्कता और क्रियाकलाप का क्षेत्र विवाह-नियमनपद्धति द्वारा संकीर्ण कर दिया गया। सामाजिक जीवन की सामूहिक चेतना से सामाजिक हलचल को रचनात्मक स्फूर्ति मिलती है और इसलिए सामाजिक उत्थान के सर्वोपरि प्रयास का दारमदार उसी पर निर्भर है। किंतु ज्यों-ज्यों हिंदू वैवाहिक बंधन अधिकाधिक जकड़ते गये त्यों-त्यों वह चेतना क्षीण होती गयी।

यदि वर्णों का उपजातियों में विभाजन करने के स्थान में उनको चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत में ही सुगठित और सुदृढ़ किया गया होता तो हिंदूसमाज छिन्नभिन्न न होने पाता और उसका यह विनाश-कारी रूप आज हमारी आंखों के सामने नहीं होता। जिस सामाजिक गोरखधंधे में हम आज उलझ गये हैं, वह हमारे लिए सिर-दर्द का विषय नहीं बन सकता था बशर्ते हम समाज को केवल चार वर्णों ही तक सीमित रखते। इसके विपरीत, हमारे समाज का रूप स्पष्ट और अविकृत रहता और उससे एक सामान्य सामाजिक पद्धति का विकास हो सकता था। वर्णचतुष्टय की कल्पना में एक सुगठित समाज की कल्पना अंतर्भूत थी। यह कुछ बुद्धिगम्य सिद्धांतों के आधार पर जनता का संगठन था। बड़े दुःख की बात है कि यह संस्था जनसंगठन होने की भी आशा पूरी न कर सकी और चातुर्वर्ण्य का सिद्धांत एक कोरे आदर्श से अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सका।

चातुर्वर्ण्य की ओट में जाति-पांत की वैधता का ढिंढोरा पीटा जाता है। चातुर्वर्ण्य को आदर्श जाति-समाज मान लिया है। किंतु यदि ध्यान से देखा जाए तो विदित हो जाएगा कि इस चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था

को भी धार्मिक समर्थन प्राप्त नहीं है। एक अर्वाचीन लेखक ने इसकी ओर इस प्रकार इंगित किया है :

"प्रारंभिक वैदिक काल के तत्त्वदर्शियों ने वर्ण-व्यवस्था का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस युग के साहित्य में भीतर घुसकर हम कितनी ही खोजबीन करें, वहां वर्गों का साक्षात्कार भले ही हो सकता है वर्णों का नहीं। निदान, उसमें वे तत्त्व अवश्य उपस्थित थे जिनसे वर्णों का निर्माण होता है। अतएव विभिन्न व्यवस्थाओं में धीरे-धीरे खाई पैदा हो गयी। बहुत समय तक सामाजिक अलगाव और अस्पृश्यता की परिकल्पना फिर भी उन विवेकशील लोगों को अरुचिकर बनी रही जो विभिन्नता में एकता का दर्शन और एकता में विभिन्नता का विलीयन करते थे। प्रत्येक वर्ग समाज के ताने-बाने का अविच्छिन्न अंग माना जाता था।"*

वास्तव में, जब सभ्यता का अधःपतन होने लगा तब वर्णों ने समय पाकर एक सामाजिक चोला धारण कर लिया। स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक में इस आलोच्य विषय की निम्नलिखित समीक्षा की है :

"प्राचीनतम संस्कृति और नवीनतम सभ्यता के बीच जो भेद दिखायी देता है, वही भेद सामाजिक धर्म और जातिवाद के बीच में है। कुलीन और उपरोहित प्रारंभिक सामाजिक धर्म के प्रतीक थे। इनके सामाजिक धर्म के उत्थान के साथ स्वयं संस्कृति का उदय हुआ है। जातियों का अभिप्राय उन निश्चित समुदायों से है जो श्रम और खेती के कामों में संलग्न है। सामाजिक धर्म उस समग्र संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट स्पंदन है जो ध्येय-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर है अर्थात् जिसका लक्ष्य है कि 'जीवन अपना साक्षा-

*आर. पी. मसानी द्वारा लिखित "कास्ट एण्ड स्ट्रक्चर आफ सोसाइटी" नामक पुस्तक (लीगेसी आफ इंडिया ग्रंथमाला) की पृष्ठ संख्या १३२ पर

त्कार करें'। जातिवाद सामाजिक परिपक्वता की चरम अवस्था है जिसमें उसका विकास एक निश्चित अचल बिंदु पर जा टिका है।"+

बहुत समय तक हिंदूजाति के कुछ भागों का यह दृढ़ विश्वास रहा कि चातुर्वर्ण्य ईश्वरोक्त सामाजिक व्यवस्था है और वर्णसंकरकारक दोष सबसे अधिक निंदनीय सामाजिक पाप है। किंतु ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' को छोड़कर, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है और जिसमें चार कर्मों की काल्पनिक और अन्योक्तिपूर्ण व्याख्या की गयी है, वेदों में और उन पर आधारित धार्मिक साहित्य में उस कठोर अपरिवर्तनीय वर्ण-व्यवस्था का वर्णन कहीं नहीं मिलता है जिसमें जन्म-जाति के अनुसार व्यवसाय चुनने के लिए बाध्य और अंतर्जातीय विवाह का निषेध किया गया हो। 'ऐतरेय ब्राह्मण' संस्कार-पद्धतियों का एक परम पुनीत ग्रंथ है। किंतु तथ्य यह है कि इसके प्रणेता स्वयं एक ब्राह्मण ऋषि और उनकी दस्यु जाति की पत्नी के औरस पुत्र थे। अतएव इससे जहां एक ओर यह स्पष्ट होता है कि वर्ण-व्यवस्था केवल सामाजिक आकार—प्रकारों के अंतर्गत एक प्रकार के ढांचे का नाम है और वह वस्तुतः कोई धार्मिक संस्था नहीं है, वहां दूसरी ओर यह भी उससे किसी प्रकार कम सत्य भासित नहीं होता है कि हिंदूधर्मशास्त्रों में वर्ण-व्यवस्था का डंका निधड़क बज रहा है। सभी पुराण वर्णों के अस्तित्व को मानते हैं और वे वर्ण-व्यवस्था को समाज की एक स्थायी व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। किंतु वर्ण-व्यवस्था के ईश्वरीय विधान होने का जो ढोल पीटा गया है वह तार्किक बुद्धि का पूर्ण उपशमन नहीं करता है। निःसंदेह गीता का यह प्रवचन है :

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"

+"डिकलाइन आफ दी वेस्ट" स्पेंगलर जिल्द २. पृष्ठ संख्या ३३३

और प्रायः इसे उद्धृत करके अंतिमरूप से यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि वर्ण-व्यवस्था एक ईश्वरीय विधान है। किंतु यदि सावधानी से विचार किया जाए तो इससे प्रत्यक्ष हो जाएगा कि भगवान कृष्ण का उपरोक्त कथन वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं करता, प्रत्युत उस पर मर्मांतक प्रहार करता है। उसका वाच्यार्थ है: 'मेरे द्वारा **गुण और कर्म के आधार पर** चातुर्वर्ण्य की रचना की गयी'। स्पष्ट है कि इसमें जन्म के आधार पर वर्ण के ईश्वरीय विधान को नितांत असंदिग्ध शब्दों में अस्वीकार किया गया है– ब्राह्मणों की जन्मगत श्रेष्ठता के दावे का पूर्णरूपेण खण्डन किया गया है। आज भी गुण और कर्म के आधार पर क्रियात्मक विभेद को कोई अस्वीकार नहीं करता है। वर्ग-विहीन समाजों तक में, गुण और कर्म के आधार पर, लोगों को बुद्धिजीवी, सैनिक, मजदूर और किसान की श्रेणियों में बांटना पड़ा है। इस दिशा में गीता के उपर्युक्त उपदेश का यही सारगर्भित आशय है। किंतु इस प्रसंग में उसकी केवल पहली पंक्ति ही को उद्धृत किया जाता है और वह मूल बात प्रस्तुत नहीं की जाती है जिसके आधार पर श्रीकृष्ण ने कहा है कि वह स्वयं चातुर्वर्ण्य के सृष्टा हैं। निदान, मूल संदर्भ का जो यह आशय है कि जन्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का दो-टूक खण्डन किया जाए, वह दृष्टि से ओझल हो जाता है, और इसके विपरीत अज्ञानियों को समझाने के लिए यह विचित्र अर्थ ढूंढ़ लिया जाता है कि गीता में वर्ण-व्यवस्था की पुष्टि की गयी है।

यदि धर्म नहीं, तो फिर इस पद्धति पर धार्मिक समर्थन का रंग कौन चढ़ा रहा है? इसका उत्तर है 'हिंदू धर्मविधि' अर्थात् हिंदू कानून। विशद हिंदू विधानशास्त्र वर्ण-व्यवस्था पर अवलम्बित हैं। 'मनुस्मृति' में, विभिन्न जातियों के लिए विभिन्न प्रकार के दंडों का विधान विशेषरूप से किया गया है और वर्णसंकर-दोष को सबसे निकृष्ट

पाप बताया गया है। लेकिन स्वयं ब्राह्मणों तक ने कभी इस बात का आभास नहीं दिया है कि धर्मशास्त्र ईश्वरोक्त हैं या उन पर कोई ईश्वरीय छाप है। वास्तव में, हिंदू धर्मसंहिताओं के मूल की ऐतिहासिक खोजबीन करने से यह निष्कर्ष निःसंशय स्थिर हो जाता है कि इन संहिताओं का विकास निर्भ्रांतरूप से धीरे-धीरे हुआ और इसलिए उन्हें काफी समय तक सर्वमान्यता नहीं मिली।

धर्मशास्त्रों के बारे में ध्यान देने योग्य एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब मनु तथा अन्य स्मृतिकार समाज को चार वर्णों में विभाजित करते हैं तब उनके सामने उन अगणित उपजातियों का सामाजिक तथ्य आये बिना नहीं चूकता जिन्होंने चातुर्वर्ण्य को, अपनी उपस्थिति के कारण, बिल्कुल काल्पनिक और मनगढ़न्त बना दिया है। उक्त विधायकों के मतानुसार इन अगणित उपजातियों की उपस्थिति वर्णसंकरकारक दोष है। उनके इस तर्क से पूर्ण शंका-समाधान नहीं होता है। वे जिन जन-समुदायों का अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सके हैं उन्होंने उनके मनमाने नाम गढ़ दिये हैं। इसलिए स्पष्ट है कि हिंदुओं का यह सामाजिक संघटन, चाहे उसकी सैद्धांतिक स्थिति कुछ भी क्यों न थी, प्राचीनतम काल से अगणित उपजातियों के आधार पर खड़ा था, चातुर्वर्ण्य की एकीकृत व्यवस्था पर नहीं। मधुमक्खी के छत्ते की भांति विपुल छोटे-छोटे जनसमुदायों में विभाजित इस समाज ने यह दावा कभी नहीं किया है कि उसकी इस पद्धति को धार्मिक समर्थन प्राप्त है। उनमें प्रत्येक समुदाय दूसरे से अलग है और अपनी न्यारी दुनिया में रहता है। यह दृश्य सामाजिक विकास का स्वाभाविक रूप और हिंदू सामाजिक जीवन की अराजकता का दुष्परिणाम है। उपजातियों से किलबिलाते इस समाज का, हिंदुओं की एक अन्य विलक्षण संस्था अर्थात् अविभक्त-परिवार प्रणाली से इतना गहरा सम्बंध है और यह उस पर इतना अधिक

आश्रित है कि हमें अब, उस अविभक्त-परिवार प्रणाली के छिन्नभिन्नकारी प्रभाव की पूर्ण गंभीरता समझने के लिए, यहां कुछ ठिठककर पहले उसी संस्था का अध्ययन करना होगा।

यद्यपि वर्ण-व्यवस्था और अविभक्त-परिवार प्रणाली के सिद्धांतपक्षों में कोई सम्बंध नहीं है, फिर भी इन दोनों के व्यवहारपक्ष आपस में इतने उलझे हुए हैं कि क्रियात्मकरूप से ये युग्मधर्मा संस्थाएं एकजीव होकर एक सामान्य संस्था में परिणत हो गयी हैं। हिंदूसमाज का घटक व्यक्ति नहीं, अपितु **अविभक्त-परिवार** है। परिवार की सबसे व्यापक व्याख्या है 'उपजाति' जिसमें कुछ अविभक्त-परिवार सम्मिलित होते हैं जो आपस में विवाह और 'खान-पान' का सम्बंध रखते हैं। इस विस्तृत सम्मिलित परिवार से बाहर हिंदू पग नहीं धरता है, और व्यवहार में न किसी समाज या जाति ही को अंगीकार करता है। यह सबसे अधिक व्यापक सामाजिक समुदाय का रूप है जिसका विकास हिंदुओं ने स्वयं किया है और इसलिए उसी तक उनकी श्रद्धा परिसीमित है, उसी तक उनका सामाजिक सम्पर्क परिमित है और वही उनकी निष्ठा का पात्र है। यह वह आधारशिला है जिस पर हिंदू सामाजिक संघटन का निर्माण किया जाता है। भारत के आधुनिक पाखण्डी समाजशास्त्रियों को इस पद्धति में अनेक सद्गुण सूझ पड़े हैं, और कुछ हिंदू तथा हिंदू-इतर लेखकों को तो इसमें हिंदू संस्कृति की रूह छिपी दिखायी दी है। उनका कहना है कि अविभक्त-परिवार की भावना व्यक्तिविषयक स्वार्थों का दमन करती है क्योंकि एक जाति के बृहत्तर क्षेत्र के साथ व्यक्तियों के चालचलन पर उसका कठोर अंकुश रहता है। यह व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों को कम करती है, क्योंकि इसके अंतर्गत स्वामित्व एक बृहत्तर गुट के हाथ में

होता है। और, यह वृद्धों के लिए पेंशन की व्यवस्था, बेरोजगारी का बीमा, इत्यादि जैसी आवश्यक सामाजिक सेवाओं की, पूर्ति करती है। इन तर्कों का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। सभी प्राथमिक संस्थाओं ने जातीय मंगल के आधार पर अपनी रचना की है। प्राथमिक आदिमजातियों का उत्प्रेरणा-स्रोत यही जातीय मंगल का सिद्धांत है। किंतु इस आधार को लेकर यह हठपूर्वक कहना कहां तक ठीक होगा कि बेहतर सामाजिक संघटनों का विकास न करके उन आदिमजातियों की अवस्था में ही जीवन बिताना श्रेयस्कर समझा जाए ?

अविभक्त-परिवार क्या है ? यह उस प्राथमिक पारिवारिक समुदाय की केंचुल है जिसने मनुष्य के मस्तिष्क में समाज की परिकल्पना का उदय होने से पहले ही अपने चारों ओर रक्त-सम्बंध और आर्थिक अनुरूपता की दीवार खड़ी कर ली थी। उसने व्यक्ति को गुट (परिवार) के अधीन कर दिया, उसके लिए एक आचार-संहिता बनायी, और कर्त्तव्य और दायित्व निर्धारित किये, और उसे पारिवारिक सूत्र में पिरोकर उसकी "उदात्त स्वार्थवृत्ति" को सुधार दिया। यह सरलता से स्वीकार किया जाएगा कि अविभक्त-परिवार प्रणाली प्राथमिक जीवन से सभ्यता में प्रवेश करने की एक लम्बी डग थी। सामाजिक आज्ञापालन के सिद्धांत की स्थापना करके इसने संगठित जीवन का श्रीगणेश किया। सभ्यता के सामने सबसे कठिन काम हमेशा यही रहा है कि आज्ञापालन के एक ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन किया जाए जिसे न्यायपूर्ण और स्वाभाविक होने के नाते विश्वव्यापी मान्यता मिल सके और जिसके आगे मनुष्यमात्र अपनी इच्छा का आत्मसमर्पण कर दे। "असभ्य" और प्राथमिक समाजों के लोग अपनी जातियों के प्रति निष्ठा के नाम पर आज्ञापालन करते थे

और उसका उल्लंघन करने की दशा में उनकी धार्मिक संस्थाएं उन्हें दंड देती थीं। परंतु यह जानना आवश्यक है कि किसी चिह्नधारी आदिमजाति का संगठन **एक रक्त के परिवार** ही को लेकर होता है और उसके सभी सदस्य एक ही प्रकार का चिह्न धारण करते हैं जो उनके मूलवंश का द्योतक होता है। गरुड़-चिह्नधारी अर्थात् गरुड़वंशी आदिमजाति का उदाहरण लीजिए: इसके सदस्य एक सामान्य काल्पनिक पूर्वज गरुड़ के वंशज माने जाते हैं और उसके नाते रक्त-सम्बंधी हो गये हैं। अंग्रेजी कवि लोंगफेलो ने अपनी एक कविता "हायावाथा" में इन चिह्नवंशी जातियों के उद्‌भव का जो रोचक संकेत किया है उसका अविकल हिंदी अनुवाद नीचे दिया जाता है:

"किस पूर्वज-सूचक चिह्न से—
क्या गरुड़ से, क्या भालु से अथवा क्या ऊदबिलाव से—
उनका वंश-उपक्रम चला, यह हमें नहीं सुज्ञात है।"

निःसंदेह, यह सब मानस-संतति है। किंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राथमिक मस्तिष्क एकमात्र रक्त के आधार पर निष्ठा और स्वेच्छा से आज्ञापालन के सिद्धांत का पता लगाने में सफल हुआ था।

फिर घटक के रूप में वास्तविक परिवार ने काल्पनिक परिवार का स्थान ग्रहण किया। यह परिवर्तन सामाजिक विकास के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। पैतृक (इसी प्रकार मातृक) परिवार में पिता की संतति निर्बाधरूप से स्वामी बन जाती है और शेष लोग उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं। सभ्यता के इतिहास का यह अध्याय सबको विदित है। इस पैतृक परिवार ने अधिकांश सभ्य समाजों में, मुख्यतः दो प्रक्रियाओं द्वारा, सामाजिक आधारों को और आगे विस्तृत कर दिया। पहली, प्रारंभ में सभी रक्त-सम्बंधियों का एक विस्तृत कुटुम्ब होता था; किंतु अब

परिवार विशुद्धतः अपनी व्यक्तिगत कल्पना तक सीमित कर दिया गया, अर्थात् परिवार पिता और उसकी संतति तक ही परिमित हो गया। दूसरी, दायित्वों और कर्त्तव्यों की परिकल्पना का क्रमिक विकास हुआ और वह परिवार की परिधि को पार करके सम्पूर्ण जाति से सम्बंध रखने लगी। भारत में अविभक्त-परिवार की प्रणाली प्रचलित ही नहीं रही, प्रत्युत उपर्युक्त दोनों प्रक्रियायों के अभाव में उसकी जड़ें हिंदूसमाज में और गहरी धंस गयीं। इसके अतिरिक्त, एक केन्द्रीय सत्ता, चाहे वह किसी राजा की सत्ता होती या किसी धार्मिक संस्था की, न-होने के कारण जब कभी सामाजिक आवश्यकताओं के लिए विधान सुधारने की चेष्टा की गयी, उसका परिणाम यह हुआ कि वे रूढियां और संस्थाएं और दृढ़ हो चलीं जिन्हें प्राचीन स्मृतिकारों का आशीर्वाद प्राप्त था। स्मरण रहे, हिंदू राजाओं के हाथ में विधान-निर्मात्री सत्ता न थी। वे आचारसंहिताओं का प्रख्यापन नहीं कर सकते थे और न कानूनों में संशोधन ही। हिंदुओं के पास ईसाई जगत के प्रभु पोप अथवा गिरजाघर-परिषद् जैसी धार्मिक सत्ता कभी नहीं रही है जिसे स्मृतियों में परिवर्तन करने की क्षमता प्राप्त होती। इस प्रश्न पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहां इतना कहना ही अलम् होगा कि हिंदू सामाजिक व्यवस्था पर न तो धार्मिक प्रतिष्ठान ही की सत्ता थी और न राज्य की। इसलिए जो संस्थाएं स्मृतिकारों की छाप लेकर चली आ रही थीं या प्राचीन काल से ही फलफूल रही थीं उनमें देशाचार या कुलाचार द्वारा संशोधन भले ही होते रहे हों, उनमें अन्यथा कोई परिवर्तन नहीं किया जा सका।

वर्ण-व्यवस्था और अविभक्त-परिवार प्रणाली की मिथुन-धर्मा सामाजिक व्यवस्था का हिंदू जनता पर क्या असर पड़ा

है ? प्रथम, इसने समाजिक जीवनतत्त्व को इस प्रकार खण्ड-खण्ड कर दिया है कि इसके घटक छोटे से छोटे बनते चले गये हैं, और यहां तक कि उनका साधारण समाज से कोई सम्बंध ही नहीं जान पड़ता है। इस प्रकार **यह व्यवस्था एक 'जाति' के सिद्धांत को पूर्णतः अस्वीकार करती है** और उसके विपरीत खण्डीकरण और विभाजन के सिद्धांत पर हिंदूजीवन के संगठन की नींव जमाती है। उनमें अविभक्त-परिवार प्रणाली और उप-जातियों की उपस्थिति देखते हुए, हिंदुओं को उन छोटी-छोटी इकाइयों के छिन्नभिन्न जनसमूहों से अधिक नहीं माना जा सकता जिनका एकदूसरे से सम्पर्क ही नहीं, प्रत्युत जिनमें एकदूसरे से सम्पर्क स्थापित करने की क्षमता भी नहीं है, क्योंकि उनके बीच आपस में विवाह करने की अनुमति नही दी जाती है और आपस में खानपान का निषेध होने के कारण सामाजिक नाता जोड़ना कठिन हो गया है। द्वितीय, प्रत्येक उपजाति अपने को यद्यपि सभी उपजातियों से नहीं, तो भी अधिकांश उपजातियों से श्रेष्ठ समझती है, और इस भांति यव पद्धति असमानता के सिद्धांत को अनुप्राणित और परिपोषित करती है।

फिलहाल, भारतीय नेता "जातिवाद" के अभिशाप के प्रति जागरूक हो चले हैं। अव आप देखेंगे कि जातिवाद का चातुर्वर्ण्य से कोई सम्बंध नहीं है। इसमें सामान्य शूद्र-भावना, शूद्र-एकता अथवा ब्राह्मण--एकता तक की अपील को कोई स्थान नहीं है। राजनीति की भाषा में उपजाति के प्रति निष्ठा का भाव ही जातिवाद है। जब तक उपजाति की परिकल्पना जीवित है तब तक जातिवाद नहीं मिट सकता क्योंकि यह एकमात्र, स्थायी निष्ठा किसी भी हिंदू को बपौती के रूप में उपलब्ध होती है। वास्तव में जब तक किसी समाज में उपजातियां और अविभक्त-

परिवार प्रणाली मौजूद है तब तक उसका संगठन समानता के आधार पर नहीं किया जा सकता है।

तृतीय, ये दोनों सहोदर संस्थाएं अलगाव और पार्थक्य सिद्धांतों पर आधारित है जिससे वे प्रत्येक कदम पर उसी सिद्धांत का परिपोषण करती हैं। यदि आपसी विवाह और भोज उपजाति की सीमाओं से बाहर हाथ-पैर फैलाने लगें तो प्रत्यक्ष है कि उपजाति-व्यवस्था कायम ही नहीं रह सकेगी। अतएव खान-पान और विवाह के प्रतिबंधों को तोड़नेवाले किसी भी प्रयास के विरुद्ध इन संस्थाओं की समूची शक्ति का प्रयोग होना स्वाभाविक है। इसमें आश्चर्य की बात क्या जो इस अवस्था ने टैगोर के अन्तःस्थल पर चोट पहुंचायी थी और उनके हृदय से सहसा यह उद्‌गार निकल पड़ा था कि ये हिंदू सामाजिक संस्थाएं दीवारों के समान हैं जो "मनुष्यों को विचार के प्रकाश और जीवन की श्वास से वंचित कर देती हैं।" एक बाहरी प्रेक्षक ने तो इनकी निम्नांकित तीव्र शब्दों में भर्त्सना की है:

"उपनिषदों का उच्चकोटि का तत्त्वदर्शन और गीता का कर्म-ज्ञान वर्णव्यवस्था के अत्याचारों के कारण कोरा वाग्जाल बन गया है। उधर तो भारत, जड़ और चेतन समेत, समस्त विश्व को एकता का उपदेश देता है और इधर उसने एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था अपनी छाती से चिपटा रखी है जिसने उसके बच्चों को निर्ममतापूर्वक अलग-अलग गुटों में बांट रखा है, उनको एकदूसरे से, पीढ़ी पर पीढ़ी, अनंत शताब्दियों के लिए अलग-अलग कर दिया है। इसके कारण हमें विदेशी विजेताओं ने अनेक बार पद-दलित किया है जिससे भारत अकिंचन और दुर्बल बन गया है। और इसका सबसे भीषण परिणाम यह है कि वह अस्पृश्यता और असंसर्गता का घर हो गया है

जिसके कारण हमारे इतिहास में भाइयों ने भाइयों के खून से होली खेली है।" *

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उपजाति अथवा अविभक्त-परिवार के जर्जर स्तम्भों पर खड़े होने के कारण हिंदूजीवन के संघटन की, अपने समूचे समाज के प्रति दायित्व की भावना अर्थात् सामाजिक चेतना निष्प्राण हो जाती है, और इस प्रकार एक संगठित हिंदूसमाज की कल्पना खटाई में पड़ जाती है। न तो हिंदू धर्म ने और न चातुर्वर्ण्य ही ने, प्रत्युत हिंदू कानून ने भारत पर भ्रातृ-हत्या का धब्बा लगाया है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि हिंदू सामाजिक संस्थाओं से धर्म का लेशमात्र सम्बंध नहीं है। यदि कोई व्यक्ति हिंदुओं की सामाजिक संस्थाओं को अंगीकार नहीं करता है तो भी वह हिंदू बना रह सकता है। अनेक हिंदू सम्प्रदाय सचमुच ही उनको स्वीकार नहीं करते हैं और फिर भी हिंदू माने जाते हैं। यह इस बात का पर्याप्त स्पष्ट प्रमाण है कि इन संस्थाओं का धर्म से सम्बंध नहीं है। चातुर्वर्ण्य—तथाकथित चार वर्णों की कल्पना के पीछे समेकलन का लक्ष्य है, विभाजन का नहीं। इसमें **एकल जाति** की कल्पना की गयी है जिसमें चार परतें एकदूसरे से सटी हुई हैं और इसलिए हिंदू सामाजिक जीवन की अराजकता का घड़ा इसके सिर नहीं फोड़ा जा सकता है। संभवतः ब्राह्मणों की उपजातियों को छोड़कर, अन्य "उपजातियों" की उत्पत्ति का अपनी मूलजातियों या वर्णों से कोई सम्बंध नहीं है। इसलिए हिंदू सामाजिक छिन्नभिन्नीकरण के कलंक का टीका चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के माथे नहीं लगाया जा सकता। इसमें वास्तविक दोष हिंदू कानून का है जो अपनी निषेधाज्ञा द्वारा हिंदूसमाज में विभाजन का बीज बोता और उसको अंकुरित-पल्लवित करता है। आगे, वही समाज की यथेष्ट पुनर्व्यवस्था का रोड़ा बन रहा है।

* प्रो. ए. आर. वाडिया की पुस्तक "कांटेम्पोरेरी इंडियन फिलासोफी" पृष्ठ संख्या ३६८

अस्पृश्यता

हिंदूजीवन में एक बड़ा तथ्य यह है कि उसके भीतर अस्पृश्यता बरती जाती है। इस अस्पृश्यता ने सामाजिक पद्धति का रूप धारण कर लिया है। भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता का अंत कर दिया है और इसको अब व्यवहार में लाना एक दण्डनीय अपराध है। इसलिए, कानूनी तौर पर, अब अस्पृश्यता न तो हिंदूजीवन का और न भारतीय जीवन का ही अंग रह गयी है। आज हरिजन उन्हीं कानूनी अधिकारों का उपभोग करते हैं जो अन्य जातियों को सुलभ हैं। वे उन्हीं स्कूलों और कालेजों में जाते हैं जहां अन्य जातियों के सदस्य विद्या अध्ययन करते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें विद्यालयों में शिक्षा के मामले में विशेष सुविधाएं प्राप्त हैं। वे अपनी रुचि के अनुसार अपना व्यवसाय चुन सकते हैं और उनके ऐसा करने में कोई अड़ंगा नहीं डाल सकता। वे प्रत्येक प्रकार की सरकारी नौकरी मे लिए जाते हैं और केंद्रीय तथा राज्यों-के मंत्रिमंडलो में उनकी जातियों के सदस्य सम्मिलित हैं। वयस्क मताधिकार ने उनके हाथ में एक बड़ा शक्तिशाली हथियार दे दिया है और संविधान ने सभी विधानमंडलों में उनके लिए स्थान सुरक्षित करके उन्हें सार्वजनिक जीवन में ऐसा पार्ट अदा करने के योग्य बना दिया है जो कम मूल्यवान नहीं है। कोई भी निष्पक्ष प्रेक्षक इस बात को मानने से इन्कार नहीं करेगा कि देश के स्वतंत्र होने के साथ हरिजन जाति की स्थिति में भारी परिवर्तन आ गया है।

यद्यपि यह सब सत्य है, और यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि कानूनी निर्योग्यताएं समाप्त हो गयी हैं, फिर भी यह कहना बेहूदगी होगी कि अस्पृश्यता के उन्मूलन की घोषणा के साथ ही अछूतों की सामाजिक निर्योग्यताएं विदा हो गयी हैं। सामाजिक सस्थाएं, जो कम-से-कम तीन हजार वर्षों से चली आ रही हे और हिंदूजीवन के ताने-बाने ही में समा गयी हैं, एकाएक कैसे मिट सकती हे ? यद्यपि कानूनी निर्योग्यताएं हट गयी हे फिर भी सामाजिक तथ्य--सशोधित रूप ही में सही, आंखों के सामने हे, और मालूम नहीं कि उनको बदलने के प्रयत्न में कितने वर्ष लग जाएंगे ? इसलिए यह विवेचन करना आवश्यक हे कि अस्पृश्यता प्रणाली का हिंदूजीवन के ढांचे से क्या सम्बंध हे ?

सैद्धांतिकरूप मे, अर्थात् चातुर्वर्ण्य के सिद्धांत के अनुसार अछूत जातिपद्धति के बाहर हे। दूसरे शब्दों में, वे पंचम--अवर्ण कहलाते हे। वे हिंदू सामाजिक व्यवस्था के भीतर नहीं आते। वस्तुतः अवर्ण हिंदू सामाजिक धारणाओं की परिधि से बाहर की जातियां थी। लेकिन यदि इस प्रश्न पर सामान्य रीति से भी दृष्टिपात किया जाए तो उससे यह प्रकट हो जाएगा कि हिंदूजीवन के स्वाभाविक प्रवाह में उनका योगदान आवश्यक था। हिंदुओं की शास्त्रीय निषेधाज्ञाओं ने चार वर्णों के सदस्यों के लिए कुछ व्यवसाय वर्जित कर दिये थे। उस समय जाति की नीच टहलटई को मानवीय अपवित्रता और अधोगति का कारण माना जाता था। इसलिए यह तुच्छ सेवा चातुर्वर्ण्य के हिस्से में नहीं पड़ी थी। परिणामतः एक पटरी समाज बन गया जिसमें चार वर्णों से बाहर की वे जातियां सम्मिलित हो गयीं जो उपर्युक्त आवश्यक सेवा-सुश्रूषा

कर सकती थीं। फिर तो प्रत्येक गांव में सामान्य बस्ती के क्षेत्र से बाहर, घरों का एक झुंडसा खड़ा हो गया जिनमें यह प्राणी वर्ग, जिस पर गांव की सफाई और अन्य नीच टहल का भार डाल दिया गया था, बड़ी दुरवस्था में जीवन के दिन पूरे किया करता था। यदि गली-नालियां साफ करानी होती थीं, यदि मरे पशुओं को हटावाना होता था, यदि खेतीबारी का कठिन परिश्रमसाध्य काम (किन्हीं किन्हीं क्षेत्रों में) कराना होता था तो चार वर्णों के सदस्यों को इसी पंचम वर्ण का मुह ताकना पड़ता था।

जब जातिपद्धति अपनी यौवनावस्था में थी तब इस पंचम वर्ण की दशा कई प्रकार से दासता से भी बुरी थी। दास कम-से-कम स्वामी की अपनी सम्पत्ति था और इसलिए स्वामी के साथ उसका एक व्यक्तिगत सम्बंध होता था। कालांतर आर्थिक स्वार्थों और मानवीय भावनाओं ने व्यक्तिगत दासता की नृशंसता में कमी कर दी। किंतु ये बातें हिंदुओं की अस्पृश्यता-पद्धति के पाषाण हृदय को द्रवीभूत करने में असफल रहीं। क्यों? ध्यान देने से मालूम हो जाएगा कि दासता और अस्पृश्यता में भारी अंतर था। अस्पृश्यता के अंतर्गत जातिगत दासता अंतर्भूत थी। दास केवल एक व्यक्ति के अधीन होता था, लेकिन अछूतों के परिवार तो गांव के साथ जोड़ दिये जाते थे और उन पर इस प्रकार गांव-भर की दासता का भार होता था। इस प्रथा की कठोरता में कमी के लिए किसी व्यक्तिगत या सामाजिक रियायत की गुंजाइश नहीं थी। इसकी कल्पना स्वप्न तक में नहीं की जा सकती थी कि "उच्चतर" वर्णों का कोई व्यक्ति किसी अछूत के साथ व्यक्तिगत सम्बंध रख सकता था।

लेकिन विचित्र बात यह है कि स्वयं अछूतों के भीतर एक अपना जाति-संघटन था। उनमें भी अविभक्त-परिवार और उप-

जाति प्रणाली का बोलबाला था। सवर्ण हिंदुओं की भांति उनमें भी अगणित ऊंच-नीच उपजातियों का उपक्रम था, जो एक-दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करती थीं। वास्तव में, अछूत-समाज सभी बुराइयों की दृष्टि से हिंदूजीवन का अनुकरण था और उसने अछूतों पर सवर्ण हिंदुओं की भांति ही कठोर सामाजिक भेदभाव लाद रखे थे। परिणामतः अन्य लोगों की भांति वे भी छिन्नभिन्न और अलग-अलग हो गये थे।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष हो जाएगा कि यद्यपि कानूनी निर्योग्यताएं खत्म हो सकती हैं और देह छूने से अपवित्र हो जाने के अर्थ में अस्पृश्यता, सुविधाओं से वंचित करने के कृत्य आदि को दण्डनीय किया जा सकता है और सचमुच ही अ-स्पृश्यता को अप्रयोगात्मक अवस्था में पहुंचाया जा सकता है, जैसाकि लोगों ने पहले ही से कई जगह कर दिखाया है, फिर भी एक समानांतर, अधीन, और पृथक्कृत समाज को, जो रूढियों द्वारा निर्धारित कामों में संलग्न है, हिंदूसमाज के ढांचे से बाहर नहीं निकाला जा सकता है। यह आर्थिक हितों से और हिंदू ग्रामसंगठन का आधार होने के नाते उसमें बमा हुआ है।

आज हिंदू सामाजिक पद्धति के सामने एक संकट उपस्थित है, क्योंकि यद्यपि भारत के गांवों में तथाकथित अछूतों का पटरी समाज अब भी काम कर रहा है किंतु उसकी नींव वहां भी हिल उठी है। राजनीतिक परिवर्तनों, स्वयं हरिजनों के बीच उथलपुथल और इनके साथ ही उच्चवर्ण के हिंदुओं की सामाजिक सत्प्रेरणा के संयुक्त थपेड़े खाकर इस पटरी समाज के सिद्धांत पक्ष और व्यवहारपक्ष दोनों डांवाडोल हो उठे हैं। जिन राजनीतिक परिवर्तनों ने, हरिजनों को मताधिकार दिया है, विधान-

मंडलों में, स्थानीय संस्थाओं में और, इन सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रामपंचायतों में उनके लिए स्थान सुरक्षित किये गये हैं, उन्होंने उनको अपनी शक्ति से अवगत कर दिया है। उन्हें सेवाओं में प्रवेश और सर्वोच्च स्तर की शक्ति में अंशदान मिलने की बातें भी महत्त्वपूर्ण हैं। सामुदायिक निर्माणयोजनाओं और राष्ट्रीय विस्तारसेवाओं ने गांवों में नये विचार फैलाये हैं और उनके सामने जीवन के नये मार्ग खोल दिये हैं। इन परिस्थितियों में पटरी समाज जिसे पृथक करके नीचे गंदे कामों में फंसाया और सामान्य ग्राम्य जीवन से वंचित कर दिया गया है कभी काम नहीं कर सकता है।

पटरी समाज के धराशयी होते ही, जो हिंदू सामाजिक ढांचा बच रहेगा उसका वह रूप कदापि नहीं होगा जिसका विधान मनु ने बनाया था और जिसके गले में शताब्दियों से वर्ण-व्यवस्था पड़ी चली आयी है। हिंदूमत के उदर में हरिजनों और आदिमजातियों के समा जाने से, चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्तपक्ष की भी इतिश्री हो जाएगी। इस भांति कम-से-कम बुद्ध के समय से हम जिस हिंदूसमाज को देखते आए हैं उसमें उससे कहीं अधिक क्रांतिकारी परिवर्तन होगा जिसका प्रयास बुद्ध ने किया था और उससे कहीं अधिक व्यापक रूपान्तर होगा जिसकी कल्पना शंकराचार्य ने की थी।

हिंदू परिवार में स्त्रियों का स्थान

हिंदू अविभक्त-परिवार में स्त्रियों को जो स्थान दिया गया है वह हिंदू सामाजिक जीवन की एक बड़ी समस्या है। मूलतः हिंदू सामाजिक पद्धति इस धारणा पर केंद्रित है कि पुत्री पर उसका कभी कोई अधिकार नहीं है। प्राचीन विचारकों के अनुसार, किसी परिवार में उत्पन्न होनेवाली कन्या उस आभूषण के सदृश्य है जो किसी महाजन के यहां बंधक रखा हुआ है और मांगे जाने पर उसके वास्तविक स्वामी को सौंप दिया जाता है। यास्क के 'निरुक्त' (११-४ आनंदाश्रम संस्करण, पृष्ठ संख्या २०८) का कथन है- "वे कन्यायों का दान कर देते हैं। कन्या के दान, विक्रय और अतिसर्ग की पद्धतियां चालू हैं, लेकिन पुरुष की नहीं। दान का अर्थ है उपहार, विक्रय का अर्थ है बेचना और अतिसर्ग का अर्थ है परित्याग। भाष्यकार दुर्गाचार्य ने पुत्रियों के परिणयन की इन तीन प्रणालियों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि विवाह में कन्या देना दान, धन ग्रहण करके कन्या देना विक्रय और कन्या को स्वयं वर चुनने की स्वतंत्रता देना अतिसर्ग कहलाता है। हिंदू परिवार में कन्या के जन्म को जिस अनादर की दृष्टि से देखने की निरंतर परम्परा चली आ रही है, उससे प्रकट हो जाएगा कि पुत्रियों के बारे में व्यवस्था करने की जो तीन प्रणालियां यास्क ने बतायी हैं वे बिल्कुल काल्पनिक नहीं थीं, प्रत्युत वे उन रूढियों का वर्णन और उनकी युक्तिपूर्ण व्याख्या करती हैं जिनका बिना किसी अतिरंजनके अर्थ है दान, विक्रय अथवा अतिसर्ग। वास्तव में, हिंदू परिवार का सिद्धांत पुत्रियों को केवल संतति के अतिरिक्त

और कुछ नहीं मानता है। प्रत्येक कन्या के बारे में पहले ही से यह लक्ष्य-निर्धारण कर लिया जाता था कि वह विवाह करके किसी और पारिवारिक समुदाय में पत्नी के रूप में चली जाएगी। वहां यद्यपि उसके अधिकार परिसीमित हैं तो भी निश्चित कर दिये गये थे। किंतु पुत्री की हैसियत से उसे एक हिंदू परिवार में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है और उसे कोई अधिकार प्राप्त हो भी नहीं सकते थे। जब तक बाल विवाह की प्रथा रही और वास्तव में कट्टरपंथी हिंदूसमाज में सभी स्त्रियों को विवाह करना अनिवार्य बना रहा तब तक 'पुत्री को उसके वैध स्वामी के हाथ में देने की अवधि तक संरक्षकत्व में रखने' की कल्पना ने कोई गंभीर समस्या पैदा नहीं की। आज इस समस्या का रूप बिल्कुल बदल चुका है। कानून द्वारा विवाह करने की आयु बढ़ा दिये जाने से हिंदूसमाज के सामने अविवाहित पुत्री की समस्या पैदा हो गयी है। इसके अतिरिक्त आधुनिक समाज में बालहत्या और अतिसर्ग जैसे सरल मार्गों की गुंजाइश न-होने और हिंदूधर्म में ईसाइयों के 'कन्वेंट' और 'ननरी' जैसे मठों की व्यवस्था, जहां अवांछनीय पुत्रियों को आश्रय मिल सकता हो, न-होने के कारण यह प्रश्न विचारणीय होगया है। अवांछनीय पुत्रियों को उपर्युक्त मठों में आश्रय देने की व्यवस्था अतिसर्ग का एक रूप है जिसे धार्मिक पुरुषों का अनुसमर्थन भले प्रकार से प्राप्त है। अपने पैतृक परिवार की सम्पत्ति में पुत्री द्वारा भाग पाने का दावा करना, विशेषकर उस अवस्था में जबकि वह अविवाहित रहना ही पसंद करती है, हिंदू अविभक्त-परिवार की ठेठ जड़ पर कुठारघात के समान है। प्रत्येक दशा में, अविवाहित स्त्री हिंदू अविभक्त-परिवार में ऐसे तत्त्व का सूत्रपात करती है जिससे हिंदू कल्पना नितांत अनभिज्ञ है। उसके स्वत्वों के दावों का अधिक काल तक प्रति-

रोध करना संभव नहीं है। परंतु यह भी ठीक है कि उनकी मान्यता से हिंदू सामाजिक संघटन के गढ़ में एक बड़ी दरार पड़ जाएगी।

पत्नी की सम्पत्ति की समस्या भी उसी प्रकार जटिल है। यदि स्त्रियों को उत्तराधिकार से, स्त्रीधन के रूप में या उपार्जन द्वारा, जायदाद पृथक् करने का अधिकार मिल जाता है तो हिंदू विवाह की अटूट ग्रंथि का रूप इसके साथ विलुप्त हो जाएगा। इस बात पर बिना अत्यधिक बल दिये ही कहा जा सकता है कि पैतृक परिवार में अटूट ग्रन्थि के विवाह का एक आवश्यक अंग यह है कि स्त्रियां आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह पराश्रित हों। किंतु स्त्रियों द्वारा निजी सम्पत्ति का उपार्जन और पृथक् होने की दशा में अपने स्वत्व में रखने का अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि विवाह और परिवार सम्बंधी कानूनों की एक नयी संहिता की रचना की जाए ?

विधवा द्वारा अपने पति के रिक्थ अर्थात् जायदाद में एक स्वतंत्र भाग पाने के दावे से भी हिंदू परिवार की आधारभूत कल्पना में परिवर्तन होता है। आर्थिकरूप से स्वतंत्र विधवा, जिसे कानून से पुनर्विवाह की अनुमति प्राप्त हो जाती है, हिंदू पारिवारिक बंधनों के स्थायित्व की कल्पना, गोत्र-परिवर्तन, नूतन परिवार-परिग्रहण तथा हिंदुओं के पुनीत विवाह-संस्कार विषयक अन्य सभी दायित्वों को निरर्थक बना देती है। जो विधवा अपने स्वर्गीय पति के परिवार की सदस्य नहीं बनी रहती है वह हिंदू विवाह की परिकल्पना को ठुकरा देती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह व्यक्त हो जाएगा कि परिवार की जायदाद में पुत्री, पत्नी और विधवा द्वारा बंटवारे की मांग से हिंदूजीवन में एक अदृष्टपूर्व किंतु मौलिक क्रांति की आशंका है। नयी परिस्थितियों ने नयी समस्याएं खड़ी कर

दी है। अविवाहित पुत्री, आर्थिकरूप से स्वतंत्र पत्नी, तथा पुनर्विवाहित विधवा— ये वे समस्याएं हैं जिन पर प्राचीन भारत के समाजशास्त्रियों को विचार करने की अपेक्षा नहीं हुई थी। हिंदू विधान ने पुत्री का अस्तित्व कभी नहीं माना ; पत्नी पति के परिवार का अंग बन गयी और विधवा को पहले ही से मरा हुआ समझ लिया गया। ये हल बड़े सरल थे। सुतरां, आज की स्थिति भिन्न है। यद्यपि हिंदू कानून इन मामलों पर ठीक ढंग से विचार करने के लिए अब भी राजी नहीं है फिर भी यह मान लिया गया है कि समस्या नितांत सामयिक और आवश्यक है और उसका जो कुछ हल निकाला जाएगा उससे हिंदू कानून में आमूल परिवर्तन हो जाएगा। हिंदुओं का व्यक्तिगत कानून, जिसकी कट्टरपंथियों द्वारा अब तक स्पर्धातिरेक भाव से सुरक्षा की गयी है और मुसलमानी और ईसाई शासनों के अंतर्गत भी जो अक्षुण्ण बना रहा है, स्त्रियों के आर्थिक दावों से टकराकर देखते-देखते चूर-चूर हो गया है।

स्त्रियों को विद्योपार्जन की अनुमति देकर हिंदू कट्टरपंथियों ने अपने हाथों अपने पांव कुल्हाड़ी मारी है। यह सत्य है कि हिंदूधर्म अथवा हिंदूपरम्परा किसी ने कभी स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार को अनुत्साहित नहीं किया। हम जानते हैं कि भारतीय इतिहास के प्रारंभिक काल से ही स्त्रियों में तत्त्वचिंतक, कवि और विदुषियां होती आयी हैं। परंतु शिक्षा का व्यापक प्रचार नहीं था। जहां कहीं भी शिक्षा के दर्शन होते थे, वह ब्राह्मणों ही तक सीमित दृष्टिगोचर होती थी। अपवादरूप से वह किन्हीं-किन्हीं राजपरिवारों और कुलीन परिवारों में दिखायी देती थी। लेकिन आज स्थिति भिन्न है। स्त्रियों की शिक्षा सभी वर्गों में समान धरातल पर फैली हुई है। यदि हिंदू अपनी जीर्ण-

शीर्ण संस्थाओं की रक्षा करना चाहते थे तो उन्हें अपनी स्त्रियों को अज्ञान-अंधकार में मग्न रखना था और उन्हें यह सिद्धांत ममझातेबुझाते रहना चाहिए था कि कानून अपरिवर्तनीय है, और स्त्री के लिए पति ही परमेश्वर होता है। यद्यपि कट्टरपंथी लोग स्त्री-शिक्षा के विनाशकारी परिणामों का पहले ही से अनुमान लगाने में कभी नहीं चूके और आरंभ में उन्होंने अपनी संतति को शिक्षा से वंचित रखना चाहा, किंतु वे मध्यवर्गों को अपनी लड़कियां पढ़ाने-लिखाने मे नहीं रोक सके। मुख्यतः पाश्चात्य शिक्षा के आधार पर, भारत में जिन नये समाजिक वर्गों का अभ्युदय हुआ उन्होंने विवाह के दृष्टिकोण से भी, पढ़ीलिखी स्त्रियों को पसंद किया। स्वभावतः इन शिक्षित महिलाओं को **पति-देवता** के सिद्धांत में विश्वास रखने के लिए विवश नहीं किया जा सकता है, और न उन पर यह निष्ठा ऊपर से थोपी जा सकती है कि चाहे पति कितना ही पतित, दुराचारी और पौरुषहीन हो, उसकी सेवासुश्रूषा ईश्वर-पूजा के तुल्य है। अत-एव स्त्रीत्व के प्राचीन हिंदू आदर्शों को तर्क और सामान्य विवेक की कसौटी पर कसा जाने लगा और उनकी निःसंकोच आलोचना और छानबीन होने लगी। इन स्त्रियों के मन में विचार आया कि अर्द्धांगिनी होने के भुलावे में डालकर स्त्री के व्यक्तित्व को पुरुष के व्यक्तित्व में अनिवार्यतः विलीन कर देना न तो तर्क-सगत था और न किसी कानून की दृष्टि से न्यायसंगत ही। सौभाग्यवश हिंदू परम्परा केवल नलयिनी[1] की देन नहीं है अपितु उसका उतना ही उज्ज्वल निर्माण द्रौपदी, सत्यभामा, लोपामुद्रा और अरुंधती जैसी देवियों ने भी किया है। नलयिनी निरंहकार और पतिपरायणा नारीरत्न थीं जिन्होंने, अपने कुष्ठ-पीड़ित पति की प्रत्येक प्रकार से नम्रतापूर्वक सेवा-सुश्रूषा की थी। उसी प्रकार,

दूसरी ओर, द्रौपदी भी निष्ठावती और पतिभक्ता होने के साथ ही कर्मठ और दृढ़-संकल्प रमणी थीं जो अपने पतियों के साथ वन में गयीं किंतु उन्हें निरंतर कर्म-पथ पर प्रोत्साहित करती रहीं, निराशा के क्षणों में उद्बोधित करती रहीं। इसी प्रकार सत्यभामा ने रणक्षेत्रों में अपने पति का अनुगमन किया। लोपामुद्रा और अरुंधती अपने पतियों के कामों में हाथ बटाती रहीं – क्या ये प्रातःस्मरणीय नारियां भी हिंदुवाद की कट्टरपंथी परम्परा में नहीं है?

यह भी याद रखने योग्य बात है कि हिंदूधर्म ने स्त्रियों की हीनता, अर्थात् पुरुषों से स्त्रियों की लघुता का उपदेश कभी नही किया है। आदम और हौवा जैसा दृष्टांत हिंदूधर्म में कहीं नहीं मिलता है जिसमें स्त्री के प्रलोभन के परिणामस्वरूप पुरुष का पतन हुआ हो। इस प्रकार हिंदू नारी-जाति पर कोई कलंक दृष्टिगत नहीं होता है। इसके अतिरिक्त भगवान शिव का अर्धनारीश्वर हिंदूधर्म के स्त्रीविषयक विचार का पूर्ण द्योतक है। इस नारी-पुरुष के परिपूरक रूप का प्रतिपादन सीताराम, राधाकृष्ण और गौरीशंकर जैसी लोकप्रिय धारणाओं द्वारा किया गया है। हिंदूधर्म नहीं, प्रत्युत हिंदू कानून स्त्रियों को सम्पत्ति के स्वत्व से वंचित करता है; पूर्वकाल में वही लड़कियों को तरुणावस्था में पहुंचने से पहले ही विवाह करने के लिए लाचार करता था; और विधवाओं को पुनर्विवाह का विकल्प नहीं देता था। इनमें अंतिम दोनों व्यवस्थाओं में विधान द्वारा परिवर्तन कर दिया गया है और पहली में हिंदूधर्म पर कुछ भी प्रभाव डाले बिना संशोधन किया जा रहा है।*

* लोकसभा ने ८ मई १९५६ को 'हिंदू उत्तराधिकार विधेयक' स्वीकार कर लिया। –प्रकाशक

पुनश्च, शिक्षा और मानसिक पिपासा का दामन-चोली का सम्बंध है। महिलाओं के विचारों में जो जागृति पैदा हुई है, उससे वे सभी कार्यक्षेत्रों में अधिकाधिक भाग लेने के लिए आगे बढ़ आयी है। जब महात्मा गांधी ने अपने असहयोग आंदोलन का श्रीगणेश किया था तब आरंभ से ही उन्होंने भारतीय महिलाओं के नाम सहयोग की सीधी अपील की थी। इस दिशा मे महिलाओं के प्रति उनके विश्वास को पर्याप्त पुरस्कार मिला, क्योंकि स्त्रियां इस महान संघर्ष मे सब जगह अग्रिम मोर्चों पर डटी हुई दिखाई देती थीं। मदिरा की दूकानों पर धरना देने, विदेशी वस्त्रो का वहिष्कार करने और सविनय अवज्ञा चलाने में उन्होंने जो कुशलता दिखायी उसके सामने पुरुष भी विलज्जित हो गये और गांधीजी ने उनकी सेवाओं की बारंबार सराहना करते हुए कहा कि वे उनके आन्दोलन का मेरुदण्ड है। नारियों ने राष्ट्रीय संघर्ष में उल्लेखनीय भाग लिया, यह बात सामाजिक दृष्टिकोण से उतनी अधिक महत्त्वपूर्ण नही थी जितनी यह कि उन्होंने सामाजिक निषेधाज्ञाओं को उठाकर ताक पर रख दिया, जाति-प्रतिबंधों को तोड़ डाला और जो सामाजिक श्रृंखलाएं उन्हें जकड़े हुए थी उनको ढीला कर दिया।

जैसे ही सत्याग्रह आंदोलन का सिद्धांत यह हो गया कि स्त्रियां संघर्ष में बराबरी का हाथ बटाएं, उनके दृष्टिकोण में गहरा परिवर्तन आ गया। स्त्रियों की पीढ़ी पर पीढी केवल तनाव के वातावरण ही में परिपोषित नहीं हो रही थी, प्रत्युत उसका आह्वान प्रत्येक प्रकार के बलिदान के लिए भी किया जा रहा था। इस कारण परम्परागत धारणाओं का धराशायी हो जाना स्वाभाविक था। जब स्वतंत्रता ने पहली अंगड़ाई ली तब भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में स्त्रियों को जो

पद प्राप्त हुआ उसे देखकर बाहरी दुनिया चौंक पड़ी, क्योंकि वह तो हिंदू स्त्रियों को पिछड़ी हुई, अशिक्षित और एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक व्यवस्था में जकड़ी हुई समझने की अभ्यस्त थी। भारत में जो महान परिवर्तन हुआ उसमें यह महत्त्वपूर्ण बात थी कि भारतीय महिलाओं ने राज्यपाल, मंत्रियों और राजदूतों के पदों को सुशोभित किया। किंतु, कुछ मेधावी नारियों ने जो उपर्युक्त उल्लेखनीय सफलता पायी है, वह भारत के लिए उतनी महत्त्वपूर्ण बात नही है जितनी यह कि गांवों के – देहाती क्षेत्रों के विभिन्न वर्गों और जातियों के बीच, जिन्हें कट्टरपंथी या पिछड़ा समझा जाता था, विचार करवट लेने लगे हैं और यहां भी स्त्रियां उन सामाजिक बंधनों मे वहुत-कुछ मुक्त हो चुकी है जिनमें उन्हे रूढि और 'बाबावाक्यं प्रमाणं'– की विचारधारा ने जकड रखा था।

स्त्री-शिक्षा और स्त्रियों की राजनीतिक जागृति ने उस कुल्हाडी की धार तेज कर दी है जिससे हिंदू सामाजिक जीवन की जंगली झाड़ियों को साफ करना अभीष्ट है। शिक्षा आचारनीतिविषयक नयी धारणाओं की जन्मदात्री होती है। इस दशा में, दो सहस्र वर्ष प्राचीन अथवा देशाचारों पर आधारित अपरिवर्तनीय आचार-संहिता शिक्षित मस्तिष्क को कैसे संतुष्ट कर सकती है ? यहां यह कहा जा सकता है कि स्त्रियों की शिक्षा अथवा उनके राजनीतिक जीवन में पदार्पण करने से ईसाइयों के कैथोलिक चर्च के कठोर धर्माचार में कोई शिथिलता नहीं आयी है। फिर इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि शिक्षा को हिंदूमत की सामाजिक संहिता का उत्सादन ही कर डालना चाहिए। किंतु यह तर्क भ्रांतिमूलक है। कैथोलिकसमाज और हिंदूसमाज की अवस्थाएं भिन्न हैं जिनकी आपस में तुलना नहीं हो सकती है। कैथोलिकों

का सामाजिक शास्त्र, जहां तक उस पर चर्च का अनुशासन है, अपरिवर्तनीय नही है। चर्च पोप की व्यवस्था द्वारा उसकी निरंतर पुनर्मीमांसा कराता रहता है ताकि वह संसार के परिवर्तनशील नैतिक विचारों के अनुकूल बना रहे। इसके विपरीत हिंदुओं में पुनर्विवेचन के लिए इस प्रकार की कोई सामाजिक सत्ता पहले नहीं रही है। इसी कारण उनकी आचार-सहिता मे क्रमिक सशोधन नहीं हो सका है।

आज हिंदूजीवन के सिद्धांतों के पुनर्विवेचन में स्वयं स्त्रियों का हाथ डालना हिंदूसमाज के लिए सबमे बड़ी ललकार है। परिवर्तित सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति उनकी जागरूकता ने, एक स्वतत्र और स्वाधीन जीवन बिताने के लिए आवश्यक आधारभूत अधिकारों से परम्परा की ओट मे वंचित करनेवाले परम असतोषजनक आदर्श के प्रति उनके उत्तरोत्तर बढ़ते हुए क्षोभ ने, उनकी शिक्षाजन्य महत्त्वाकाक्षा ने, और राष्ट्र के जीवन में भाग लेने तथा उसका भविष्य निर्माण करने के लिए राष्ट्रीय संघर्ष की दो पीढियों के उनके पराक्रमपूर्ण अनुभव ने मूलतः इस पुनर्विवेचन के लिए उन्हें उत्प्रेरणा दी है। भारत में महिला आंदोलन की दृष्टि समूचे भारतीय समाज पर है। वह इस पर व्यावहारिक आवश्यकताओं के और आर्थिक निर्योग्यता तथा सामाजिक तनाव दोनों मे उत्पन्न होनेवाली अनंतरित समस्याओं के दृष्टिकोण से प्रहार करता है। यह सुधारकों का आंदोलन नहीं है, जो आदर्शो से उत्प्रेरित होकर सामाजिक ढांचे में परिवर्तनों की मांग करते है। यहां तो नवस्फूर्ति समाज के सबसे प्रबल अपरिवर्तनवादी भाग अर्थात् महिलाओं से प्रस्फुटित हुई है; और अब सामाजिक परिवर्तनों की इस मांग की पीठ पर उन्ही का हाथ है। अतीत में हिंदू सामाजिक अराजकता को ऐसी विकट चुनौती का सामना कभी नहीं करना पड़ा है।

स्त्रियों की जागृति के उत्तरोत्तर बढ़नेवाले प्रभाव और उनकी सामाजिक बराबरी के दावे का अभिप्राय यह है कि आधुनिक आधार पर हिंदूसमाज का पुनर्गठन किया जाए। उदाहरणार्थ, उनकी मांग है कि पुत्रियों के उत्तराधिकार को स्वीकार किया जाए। यह उनके दावों में सबसे कम महत्त्व की मांग है। किंतु यदि इसे स्वीकार किया जाता है, तो हिंदू परिवार की आधारभूत कल्पना में व्यापक सुधार करना होगा। इसके अतिरिक्त जायदाद पर स्वत्व, तलाक की छूट और सिविल मैरिज का अधिकार उनके कार्यक्रम के बड़े-बडे विषय है जो हिंदूसमाज में क्रांति उत्पन्न कर देंगे और उसके लिए एक आधुनिक कानून-संहिता, एक नयी नैतिकता, और सामाजिक सम्पर्कता के एक नये सिद्धान्त की सृष्टि रच देंगे। उसकी अविभक्त-परिवार (उपजाति) प्रणाली लुप्त हो जाएगी, प्राचीन स्मृति-कारों के संस्थानों का स्थान नये विवेकपूर्ण शास्त्र ग्रहण कर लेंगे और धर्म की पोल में घुसी हुई रूढ़ियां और लोकाचार, जो केवल सामाजिक प्रतिक्रिया के परिणाम हैं, दूध मे पड़ी मक्खी की भांति निकाल कर फेंक दिये जाएंगे। इसलिए स्त्रियों ने जो सामाजिक समानता के दावे किये है, उनको देखते हुए यह न्यायपूर्वक कहा जा सकता है कि हिंदूजीवन को आधुनिक सांचे पर ढालना और उसमें नवशक्ति का संचार करना उनकी पूर्ति पर निर्भर है। अभी हालमें लोकसभा ने जो 'हिंदू उत्तराधिकार विधेयक' स्वीकार किया है उसके अधिनियम बनकर लागू होने पर हिंदूसमाजमें व्यापक क्रांति होने की आशा की जाती है।

रूढि का बोलबाला

सामाजिक जीवन की छिन्नभिन्नता हिंदू संघटन का प्रमुख लक्षण है और उसके दुष्परिणामों का विस्तृत वर्णन करना असंभव है। इसने, अविभक्त-परिवार और उपजाति के परिमित क्षेत्रों को छोड़कर, अन्यत्र सामाजिक आज्ञापालन के सिद्धांत का प्रतिवाद किया है और इस प्रकार सामाजिक परस्पर-अधीनता की भावना के विकास को रोक दिया है। इसलिए जिस सत्ता के सिद्धांत पर राष्ट्रीय और सामाजिक संघटन बनाया जाता है उसका अभाव अतीत काल में सदा खटकता रहा है। निदान, हिंदूजीवन जंगल के पेड़-पौदों की भांति ऊलजलूल ढंग से बढ़ता गया। चाहे कोई रूढि कितनी ही विषाक्त क्यों न थी, ग्राह्य बन गयी और उसे धर्म की ओट में पावनता की पुट दे दी गयी। अपनी पूजा में नर-मांस का प्रयोग करनेवाले वाममार्गी कापालिकों के कृत्यों, सतीप्रथा, तरुणावस्था से पूर्व विवाह, स्त्रियों के प्रव्रज्या-ग्रहण तथा इसी प्रकार के अन्य घृणित रीति-रिवाजों की, जो कभी भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित थे, कोई सामाजिक भर्त्स्ना नहीं की गयी। वास्तव में, ये रीतियां देश में व्यापक-रूप से कभी प्रचलित नहीं थीं और कुछ क्षेत्रों अथवा जातियों तक ही सीमित थीं। इनके प्रति कट्टरपंथी हिंदुओं ने जो रुख अपनाया वह यह था कि यदि लोग इन रीतियों को धर्म-सम्मत मानते हैं तो दूसरों का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वे उनमें बाधा डालें। अनुदार दृष्टिकोण से कापालिकों की आराधना और उनसे भी उग्रतर तांत्रिकों की क्रियायों को उतना ही निष्ठामूलक समझा

गया जितना संध्योपासना अथवा नैत्य-प्रार्थना या देवालय की पूजा को माना जाता था।

राजकीय और धार्मिक सत्ता की अनुपस्थिति में, रूढि ने स्वाभाविक ढंग से धर्माचारों का स्थान ग्रहण कर लिया, और बनावटी पवित्र ग्रंथों के सहारे अपने पर ईश्वरीय अध्यादेशों का मुलम्मा चढ़ा लिया। राममोहन राय के आंदोलन के कारण 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने सतीप्रथा का प्रश्न अपने हाथ में लिया था। इससे पहले, इस बात का कोई उदाहरण नहीं मिलता जबकि समाज-विरोधी रूढियों का निषेध करने के उद्देश्य से राज्य-सत्ता का प्रयोग किया गया हो। सतीप्रथा का प्रश्न विशेषतः आकर्षक है। जैसाकि योरोपीय समालोचक मान बैठे हैं, सतीप्रथा भारत में बहुत व्यापकरूप से प्रचलित नहीं थी। दक्षिण भारत में कहीं भी इसका अनुकरण नहीं किया जाता था। उत्तर भारत में भी यह राजघरानों और कुलीन परिवारों तक ही सीमित प्रतीत होती है और उनमें भी इसका चलन बहुत कम था। फिर भी, दिवंगत पति की चिता पर आत्मबलिदान कर देना निर्विवादरूप से एक अत्यंत गौरवशाली कृत्य माना जाता था और जो नारियां इस मार्ग का अनुकरण करती थीं वे सती की प्रतिष्ठा की अधिकारी बन जाती थीं। जाति के सामाजिक अंतःकरण से इसके विरुद्ध आवाज कभी नहीं निकली। एक और रूढि भी कुछ जातियों में ही प्रचलित थी। यह थी बालहत्या। 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने इसके व्यवहार का निषेध और इसे एक दण्डनीय अपराध घोषित करके एक अभूतपूर्व कदम उठाया था। कम्पनी ने हिंदू सामाजिक जीवन को राजकीय कार्रवाई द्वारा नियंत्रित करने की कोशिश की। १८५७-५८ के भीषण विद्रोह का एक कारण कम्पनी-सरकार का हिंदू सामाजिक प्रवृत्तियों में हाथ

डालनेवाला रवैया भी था। इसका कम्पनी ने कटु अनुभव प्राप्त किया। यह उसके लिए तब से एक चेतावनी का काम करने लगा और फिर हिंदुओं को अपनी सामाजिक रूढियों के कीचड़ में लोटते-लुढ़कते रहने की पूरी छूट मिल गयी। सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, ब्रिटिश सरकार की एक स्वीकृत नीति बन गयी। हां, जब 'मोंटेगु-चेम्सफोर्ड' सुधारों ने विधान बनाने मे भारतीयों को कुछ अधिकार दिया तब इसमें आंशिक परिवर्तन भले ही हो गया।

गगा के हरेभरे मैदान में मुसलमानों की सत्ता की स्थापना ने, अति विभिन्न और प्राय: परस्पर-विरोधी रूढियों को कट्टर हिंदूमत के रूप मे, धर्म-सम्मत ढंग से, प्रतिष्ठित होने में वस्तुत: बहुत दूर तक सहायता दी। यद्यपि हिंदू राजनीतिक विचारधारा मे राजाओं द्वारा सामाजिक विधान बनाने के अधिकार को कभी स्वीकार नही किया गया, फिर भी 'राजा कालस्य कारणम्' अर्थात् राजा काल का नियंत्रणकर्ता है, के सिद्धांत ने उसके कंधों पर अ-परम्परागत रूढि के प्रचलन को रोकने का भार डाल दिया था। लेकिन, भारत में इस्लाम के पदार्पण के साथ ईश्वरोक्त सामाजिक व्यवस्था (और कानून) की कल्पना को व्यापकरूप से स्वीकार कर लिया गया। इस्लाम राज्य को विधाननिर्मात्री सत्ता प्राप्त नही है, क्योंकि इसका कानून ईश्वरोक्त कुरान-शरीफ और शरीअतों पर आधारित है। नयी कार्यप्रणालियों की मान्यता के लिए मुल्लाओं का फतवा पाना अभीष्ट है। भारत के जो भाग मुसलमानी प्रभुत्व में चले गये थे, उनमें हिंदू सामाजिक जीवन का राज्य से पूरा पूरा अलगाव रहा। खलीफाओं की कार्यप्रणाली का अनुकरण करते हुए, मुसलमान बादशाहों ने हिंदुओं को अपनी निजी रूढियों और जाति-पंचायतों के सामाजिक

प्रशासन में रहने की अनुमति दे दी। मुसलमानी विचारधारा के अनुसार, बादशाह का कर्त्तव्य सामाजिक विधान की व्यवस्था करना नहीं है। इसलिए साम्प्रदायिक मामलों में रूढि का अबाध प्रश्रय लेने की अनुमति देने के अतिरिक्त वे और कुछ नही कर सके। इस प्रकार यद्यपि अकबर सतीप्रथा का घोर विरोधी था और उसने स्वयं एक से अधिक हतभाग्य स्त्रियों की प्राण-रक्षा के लिए हस्तक्षेप किया था, फिर भी मुगल राज्य इस अ-मानुषीय पद्धति का निषेध नहीं कर सका। परिणामतः उत्तर भारत में मुसलमानी शासन का हिंदुओं की सामाजिक रूढियों के अराजकतापूर्ण विकास के प्रोत्साहन पर असाधारण प्रभाव पड़ा। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इनमें से प्रत्येक रूढि धर्म का अग होने का दावा करती थी और अपने पवित्र रूप की दुहाई देती थी।

अस्तु; इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि स्पष्ट सिद्धांतों और समानता के भाव पर आधारित समाज की परि-कल्पना वाले इस्लाम जैसे धर्म के सह-अस्तिव से हिंदुओं में केवल प्रतिक्रिया की भावना बढ़ी और रूढि ने अपने पाव जमा लिये। भारत के चिंतनशील मानस पर इस्लाम का गंभीर प्रभाव पड़ा। लेकिन किसी सामान्य सत्ता के अभाव मे इससे उसी समय और कालांतर में नये-नये सम्प्रदायों और पंथों का आविर्भाव हुआ। भाव-सागर की जो तरगे हिंदूसमाज को एक राष्ट्रीय पुनर्गठन की ओर ले जा सकती थी वे सम्प्रदायों और पथों की चट्टानों से टकराकर छिन्नभिन्न हो गयी। कबीर और नानक जैसे प्रतिभासम्पन्न धार्मिक नेताओं ने धर्म-विरुद्ध रुढियों और लोकाचारों की भरमार का व्यक्तिगत विरोध किया। उनका प्रभाव अपने जीवन में दर्शनीय था, और यदि उस समय किसी राष्ट्रीय सत्ता का अस्तित्व होता तो वह व्यापक धार्मिक

सुधार करने की तत्कालीन मांगों को विधान का रूप देने के लिए विवश हो गयी होती। किंतु स्थिति भिन्न थी। इनसे भी पहले बौद्धकाल से अनेक महापुरुष हिंदूसमाज में सुधार के लिए समय-समय पर प्रयत्नशील बने रहे, किंतु वे अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सके। इसी प्रकार इन लोकनायकों के आन्दोलन भी केवल नये सम्प्रदायों को जन्म देकर अपनी याद छोड़ गये और हिंदूसमाज का ढांचा टस से मस नहीं हुआ।

हिन्दू-मुस्लिम संगति का एक और पहलू है, जिसका हिंदू समाज पर प्रभाव पड़ा है और जिसका यहां उल्लेख किया जा सकता है। हिंदू राज्य, जो विजयनगर या राजपूत राज्यों की भांति स्वतंत्र बने रहे थे, अथवा जो मराठा साम्राज्य की भांति हिंदू पुनरुत्थान के आधार पर संगठित किये गये थे, प्रतिरक्षात्मक नीति का अवलंबन हिंदूमत के प्रतिरक्षक या हिंदुवाद की ढाल बन गये। उन्होंने हिंदू कट्टरवादिता को आश्रय और प्रश्रय दिया, और इसी आधार पर उन्होंने अपने अस्तित्व को न्यायसंगत ठहराया। प्रतिरक्षात्मक भावना से उत्प्रेरित होन पर समाज निःसंशय अधिक प्रतिगामी हो जाता है। वह सुधार करने की अपेक्षा अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए अधिक उत्सुक रहता है और जो कुछ उसने पूर्वजों से थाती के रूप में पाया है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा या सम, उसकी किसी-न-किसी तरह रक्षा करना चाहता है। इसलिए इन राज्यों ने धर्म का अभिरक्षण करना और अतीत की रूढियों तथा लोकाचारों को जीवित रखना ही अपना सच्चा राजकाज मान लिया। रूढियों पर नियंत्रण रखने और सामाजिक जीवन के लिए संघातक तत्त्वों को निकाल फेंकने की जो भावना राजाओं के हृदय में होनी चाहिए थी वह धर्म को शत्रुओं के संभाव्य आक्रमणों से सुरक्षित रखने के

अधिक आवश्यक कर्त्तव्य के सामने शिथिल पड़ गयी। इस प्रकार मुसलमानी प्रत्यक्ष शासन के अंतवर्ती प्रदेशों और हिंदू राज्यों, दोनों में सामाजिक विचार प्रतिरक्षात्मक भूमि में जा पड़ा और प्रत्येक प्रकार की रूढि पवित्र और अनुल्लंघनीय मानी जाने लगी।

मुसलमानों के आक्रमणों का एक परिणाम यह देखने मे आया कि उनका स्वयं हिंदू कानून पर प्रभाव पड़ा। इस्लाम सत्ता की स्थापना तक हिंदू कानून एक अनिर्दिष्ट ढंग से पनपता रहा था। बड़े भाष्यकारों ने सामाजिक शक्तियों से अभिज्ञ होकर स्मृतियों की व्याख्या की थी। लेकिन, मुसलमानों के आक्रमण ने हिंदू विधायकों के सामने नयी और अभूतपूर्व समस्याएं खड़ी कर दी। इस्लाम से हिंदूसमाज के लिए जो खतरा पैदा हो गया था उससे उसकी रक्षा करना उनका असली काम बन गया। १३ वीं शताब्दी से 'निबंध' साहित्य (स्मृति-संग्रह ग्रथ) में प्रायश्चित्त के विभाग का कलेवर अनुपात से अधिक बढ़ जाता है। सामाजिक नियमों की कठोरता और उनका उल्लंघन करने की दशा मे दण्ड-व्यवस्था पर अधिक बल दिया जाता है। इस समय प्रचुर 'निबंध' साहित्य लिखा गया। किंतु इसमें तथा अकबर के शासनकाल में टोडरमल के आदेश से जो "टोडरनामा" लिखा गया था उसमें भी उस उदारतापूर्ण व्याख्या की भावना के छायादर्शन तक नहीं होते हैं जो मनुस्मृति के प्रामाणिक टीकाकार मेधातिथि ने व्यक्त की है। स्मृतियों के टीकाकार सामाजिक प्रतिक्रिया के उन्नायक बन गये थे। यद्यपि सामाजिक रूढियों के क्षेत्र से बाहर हिंदूसमाज के अनेक रूपों में भारत में ब्रिटिश शासनकालिक विधान द्वारा परिवर्तन हो चुका है, फिर भी वह अब तक दिन पर दिन मलिन पड़नेवाली उसी प्रतिक्रियावादी छाया के अंतर्गत सांस ले रहा है।

सहिष्णुता की सीमा

सहिष्णुता का सिद्धांत सभ्य जीवन की एक कसौटी है: किंतु फिर भी कोई इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता है कि इसकी भी कुछ सीमाएं होती हैं। इस सीमा की एक अभिव्यक्ति कानून है; दूसरी सामाजिक विवेकता। यद्यपि मानव जीवन के विकास के किन्हीं चरणों में नर-भक्षण और जादू-टोना दोनों को सामान्य चीज माना जाता था, लेकिन अब इस बारे में कोई भी विवाद नहीं करेगा कि इन कुरीतियों के प्रति सहिष्णुता नहीं बरती जानी चाहिए। यद्यपि आसन्न भूतकाल तक दासप्रथा रीति-विरुद्ध नहीं समझी जाती रही, फिर भी सहिष्णुता के आधार पर यह नहीं कहा जाएगा कि दास रखने के अधिकार का समर्थन किया जाना चाहिए। इनका तथा अतीतकालीन इसी प्रकार की अन्य कुरीतियों का कानून द्वारा निषेध कर दिया गया है। किंतु जिन कुरीतियों को कानून क्षमा नहीं करता है, उनके अतिरिक्त व्यवस्थित प्राथमिक समाज की भांति ही सभ्य समाजों में भी ऐसी अनेक रूढ़ियों और लोकाचार पाये जाते हैं, जो जाति की सामाजिक विवेकता को असह्य जान पड़ते हैं। एक उदाहरण लीजिए: अनेक देशों में नंगे रहने के विरुद्ध कानून नहीं है। परंतु समाज सार्वजनिक स्थलों में नंगे रहने के आचरण को सहन नहीं कर सकता है। हिंदूसमाज ही ऐसा है जिसमें सहिष्णुता के सिद्धांत की सीमा निश्चित प्रतीत नहीं होती है। अतः भारत की सड़कों पर नंगे पुरुष बेरोकटोक घूमफिर सकते हैं और यहां तक कि धार्मिक पावनता की दुहाई देकर उन्हें हाथियों की पीठ पर बैठाकर जय जय के तुमुल घोष के बीच राजमार्गों से निकालने में कोई अनौचित्य न समझा जाएगा। वास्तव में, सहिष्णुता के इसी प्रकार के दुरुपयोग से अनेक भौंड़े

लोकाचार ऊंचे उठकर धार्मिक रूढ़ियों के आसन पर अधिकार जमा बैठे। हिंदुओं का यह मौलिक विश्वास है कि सच्चे हृदय से किसी भी "मार्ग" का अवलम्बन करने से मोक्ष मिल सकता है। क्या स्वयं भगवान कृष्ण ने नहीं कहा है कि "जो मेरा जिस रूप में भजन करते हैं उनको मैं उसी के अनुरूप फल देता हूं?" इसलिए, यद्यपि कोई भी व्यक्ति अपने मार्ग को श्रेष्ठतर समझकर उसी का अनुयायी बन सकता है, फिर भी दूसरों की निष्ठा की प्रामाणिकता पर अगुली नहीं उठायी जा सकती। निःसंदेह यह एक उत्तम सिद्धांत है—यह एक व्यापक सहिष्णुता का सिद्धांत है जिस पर हिंदुओं का गर्व करना ठीक है। किंतु आगे चलकर प्रत्येक धार्मिक विश्वास को निष्कपट भाव से प्रामाणिक मानने का यही सिद्धांत हिंदुओं को सहिष्णुता की उस सीमा पर पहुंचा देता है जहां वे अत्यंत उपहासनीय मत-मतांतरों को धर्म के गण्यमान्य सम्प्रदायों के रूप में ग्रहण कर बैठते हैं। जिन मत-मतांतरों ने कुत्सित रीतियों को गूढ निगूढ़ धार्मिक विधियों का आकर्षक चोला पहना रखा है और जिन लोकाचारों ने पेड़ों और पौदों में धर्म की स्थापना कर दी है उनको सामाजिक भावना के नाम पर आंख मींच कर सहन किया जाता है। तथ्य यह कि हिंदुओं ने सहिष्णुता की सीमा कभी निर्धारित नहीं की है। यह कहना कि धार्मिक विश्वासों के प्रति सहिष्णुता केवल मानवीय भ्रम-बुद्धि की परिचायक है और इसीलिए इसमें किसी प्रकार के हस्तक्षेप से सत्य के अपकार की आशंका जान पड़ती है, न्यायसंगत नहीं है। मेरा यह सुझाव नहीं है कि विश्वास की सीमा निर्धारित करनी चाहिए। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि मैं कहता हूं कि केवल शास्त्रोक्त हिंसा ही से मुझे मनोवांछित फल प्राप्त हो सकता है। अतः यह कहना मेरा एक विश्वास हुआ। निःसंदेह मुझे इस प्रकार का कोई भी विश्वास करने का अधिकार है।

किंतु उस विश्वास को व्यावहारिक रूप देना बिल्कुल दूसरी बात है। इस स्थिति में अंतर्भूत प्रश्न धार्मिक सहिष्णुता का नहीं, वरन् सामाजिक प्रतिरक्षा का है। वास्तव में, समीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण संघटन सहिष्णुता की सीमा की परिभाषा पर आधारित है। जो सहिष्णुता किसी सीमा से परिबद्ध नहीं है वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग या उच्छृंखलता और अराजकता है; और किसी भी समाज का संघटन उस आधार पर नहीं किया जा सकता है। सहिष्णुता के सिद्धांत के इसी दुरुपयोग से—अर्थात् उसकी सीमाएं निर्धारित न करने से, और साथ ही उसको कार्यपरिणत करनेवाली व्यवस्था का अभाव होने से हिंदूमत की सामाजिक अराजकता को खुली छूट मिल गयी है।

विधान और समाज

हम देख चुके हैं कि हिंदूजनता की सामाजिक संस्थाएं कुछ ऐतिहासिक संघातों का परिणाम हैं और धर्म से उनका किसी प्रकार का सम्बंध नहीं है। धर्मनिरपेक्ष कानून उनकी पीठ पर है, धार्मिक अनुमति नहीं। वर्ण-व्यवस्था, अविभक्त-परिवार, उत्तराधिकारनियम और इन सबसे निःसृत सामाजिक सम्पर्कता का जटिल रूप कानूनी है, धार्मिक नहीं। ये मानव-रचित संस्थाएं हैं जिनका समर्थन मानव-प्रणीत कानून से होता है।

आज हिंदूमत की विशद विधानसंहिताएं सामान्य प्रयोग में नहीं आ रही है क्योंकि वैयक्तिक विधान का विषय छोड़कर अन्यत्र उनका स्थान अन्य संहिताओं ने ग्रहण कर लिया है। इस पर तुर्रा यह कि वैयक्तिक विधान के सम्बंध में भी अव यह व्यवस्था साधिकार नहीं मानी जाती है जिसके वास्तविक विधायक मनु तथा अन्य प्राचीन स्मृतिकार थे। बात यह है कि कालान्तर में इन विधानशास्त्रियों के ग्रंथों की टीकाएं लिखी गयीं। उनके प्रकांड टीकाकारों ने अपनी प्रतिभा के बल से उनकी मूल व्यवस्था को कानून का जो व्याख्यात्मक परिधान पहना दिया वही देश के विभिन्न भागों में ग्राह्य है। इससे पर्याप्त स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि हिंदूसमाज एक ऊलजलूल और पिछड़े ढंग मे अपने लिए विधान बनाता था। निःसंशय, यह सोचने का आधार उपस्थित है कि जब तक मानवधर्मशास्त्र की रचना की गयी तब तक उसके अनेक भाग पुराने पड़ गये और अप्रयोगात्मक हो चुके थे। ओलीवर वेंडेल होम्स ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में लिखा है कि आज का विधान बीत गये कल की आवश्यकताओं को पूरा

करने के लिए रचा गया है; यदि कानून परिवर्तन-विरोधी शक्ति के रूप में बनाया जाता है तो निश्चय ही उसे सामाजिक आवश्यकताओं की होड़ में पिछड़ जाना चाहिए।

जिन महान हिंदू स्मृतियों ने अपनी रचनाकाल से अनेक शताब्दियों पहले तक के वैध विचारों और लोकाचारों को आकार-बद्ध किया है वे निःसंदेह अपने समय में काफी प्रगतिशील रही होंगी, अर्थात् वे उस समय जनता के सामाजिक अंतःकरण से बहुत दूर नहीं जा पड़ी थीं। इसके अतिरिक्त उनके विकास से परिलक्षित होता है कि उनको 'स्थाणुरूपता' (जड़ता) नहीं दी गयी थी। स्मृतियों के अनेक आदेशों को टीकाओं में रूपांतरित कर दिया गया है या व्याख्या द्वारा समय की सामाजिक विवेकता के अधिक अनुकूल बना दिया गया है। इस प्रकार हिंदू सामाजिक जीवन की भारी दुर्बलता यह नही कही जा सकती है कि वह जिन कानूनों पर निर्भर है उनमें परिवर्तन ही नहीं किया गया है, प्रत्युत यह कि ये परिवर्तन यत्र-तत्र विकीर्ण रूप में हुए हैं, स्थानीय बन गये हैं, और व्यक्तिगत रूप से टीकाकारों की प्रतिभा पर अवलम्बित रहे हैं। वे परिवर्तन इस रूप में कभी सामने नहीं आये कि उनसे वैधानिक सिद्धांतों में निरंतर सुधार करना — या परिवर्तनशील सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कानूनों में जानबूझकर फिर से हेरफेर करना अभीष्ट था। निदान, उनका प्रभाव सामान्यतः स्थानीय रहा। इस प्रकार 'मयूख' टीका, जिसमें स्त्रियों को सम्पत्ति-सम्बंधी अधिक अधिकार दिये गये हैं, बम्बई तक सीमित रही और 'दायभाग' बंगाल तक। वास्तव में, विवाहपद्धति, दत्तकप्रथा, आदि जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बंध में, भारत के प्रत्येक भाग में, व्यवहारतः स्थानीय विभिन्नताएं देखने को मिलती हैं। स्थानीय रूढियों के आगे कट्टरपंथी ब्राह्मण

जातियों तक में कानून के स्पष्ट उपबंधों को ठुकरा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, हिंदूविवाह का यह आधारभूत सिद्धांत है कि सपिण्डों को विवाहसूत्र में नहीं पिरोया जा सकता है। इस विषय पर सभी स्मृतियों में मतैक्य है। किंतु, फिर भी दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की कुछ श्रेणियों में अपनी भानजी के साथ विवाह करने की रूढि मान्य है। अब दत्तकप्रथा को लीजिए: यद्यपि कानून में निश्चित प्रकार के सिद्धांतों का निरूपण किया गया है फिर भी देश के विभिन्न भागों और विभिन्न जातियों के बीच उनके व्यवहार में आकाश-पाताल का अंतर दिखायी देता है।

निःसंदेह भारत में राजनीतिक एकता की अनुपस्थिति सामाजिक आदर्शों की पथ-निर्देशक व्यवस्था की कमी का कारण बन गयी जिससे अनधिकृत रूढियों और समाज-विरोधी रिवाजों की भरमार को रोकना असंभव हो गया। भारत, समूचे रूप से अतीत में कभी एक केंद्रीभूत अविभक्त राजनीतिक सत्ता के अंतर्गत नहीं रहा। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उसमें इतनी अधिक विभिन्नता विद्यमान है; प्रत्युत आश्चर्य की बात तो यह है कि उसमें इस सीमा तक एकरूपता कैसे आयी जिससे हिंदू कानून एक एकल संहिता के सामान्य लक्षणों से परिपूर्ण हो गया! यद्यपि शास्त्रोक्त स्मृतियों का समर्थन करने के लिए समूचे देश में कोई केंद्रीय राजनीतिक सत्ता नहीं थी फिर भी वे जब तब स्थानीय संशोधनों को निःसंदेह आत्मसात करके, अपनी सत्ता स्थिर रखने में समर्थ बनी रहीं। यह कैसे संभव हो सका? निःसंशय यह राजनीतिक जगत का एक आश्चर्य है जिसका दर्शन हिंदूजनता की आधारभूत एकता में हो रहा है।

हिंदुओं की विशाल बहुसंख्या के लिए विधान बनाने की सम्पूर्ण शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रीय सत्ता का जो अभाव था वह अब

दूर हो गया है। इतिहास में यह पहला अवसर है जबकि अब, स्वयं जनता द्वारा निर्मित, भारत में एक ऐसी सत्ता विद्यमान है जिसने हिंदुओं के लिए केवल विधान बनाने के अपने अधिकार का प्रतिज्ञान ही नहीं किया है, प्रत्युत जो अपनी आज्ञा का परिपालन कराने में भी समर्थ है। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे कि भारतीय संविधान में जिन मूल-अधिकारों की उद्घोषणा की गयी है और उसमें जिन निदेशात्मक सिद्धांतों को सम्मिलित किया गया है, उनके द्वारा उसने (संविधान ने) सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विधान बनाने के अपने अधिकार और कर्त्तव्य को सुस्पष्ट शब्दों में केवल स्वीकार ही नहीं किया है प्रत्युत घोषित भी कर दिया है। उसने अस्पृश्यता का उत्सादन कर दिया है और उसको व्यवहार में लाना एक दण्डनीय अपराध घोषित किया है। उसने कानून द्वारा पुरुषों और स्त्रियों के लिए समान अवसरों की व्यवस्था की है। प्रारंभ ही से भारतीय संसद सामाजिक विधान, चाहे उसे 'हिंदूकोड' का नाम दिया जाए, चाहे कोई और, बनाने के मामले में प्रयत्नशील हो गयी है।

विधानमंडल अचिंत्यरूप से जिस ध्येय पर पहुंचने के लिए उद्योगशील है वह यह है कि हिंदुओं के असंगठित जनसमूहों को एकल जाति में परिणत कर दिया जाए। अप्रौढ रूप में, पिछले २५ वर्षो में सुधारकों ने हिंदुओं को एक राष्ट्रीय जाति के आकार में गठित करने की आवश्यकता का अनुभव किया था। इस विचार को– अग्रधर्षणात्मक रूप ही से सही – लोकप्रिय बनाने का श्रेय स्वामी श्रद्धानंद को देना पड़ेगा जिन्होंने १९२५ में सबसे पहले 'संघटन' के आंदोलन का सूत्रपात किया था। 'संघटन' का अभिप्राय सबको समेटकर इकठ्ठा करना और उनकी व्यवस्था करना है। आर्यसमाज का यह महान नेता एक बार कम-से-कम पंजाब में

ऐसे हिंदूसमाज की रचना में तत्पर था जो मुसलमानों की भांति आपस में घनिष्टतापूर्वक सम्बद्ध और संगठित होता। किंतु जाति की विशुद्ध परिकल्पना में सामान्य आदर्शों और सामान्य हितों का भाव भी सन्निहित होता है। वर्ण-व्यवस्था और अविभक्त-परिवार प्रणाली से स्पष्टतः इस प्रकार की कल्पनाओं का खण्डन होता है और जब तक इन संस्थाओं का हिंदूजीवन पर नियंत्रण है तब तक संघटन संभव नहीं हो सकता है। हिंदूमत के भीतर जितने पंथ या मत-मतांतर हैं उनमें केवल सिखों, आर्यसमाजियों और राधास्वामियों में जातीयता का भाव देखने में आता है। उन्होंने जानबूझकर एकल जाति के आदर्श का परिशीलन किया है और इसी भावना ने उनकी शक्ति का रूप धारण कर लिया है। आर्यसमाज के नियंत्रण के लिए केंद्रीय संस्थाएं बनी हुई हैं। वह सत्ता का सिद्धांत स्वीकार करता है और अपने अनुयायियों से आज्ञापालन कराने में समर्थ है। राधास्वामी सम्प्रदाय में अधिराट्सत्तासम्पन्न परमगुरु "स्वामीजी महाराज" का पद होता है। किंतु हिंदूमत में, जिसमें सचमुच विपुल मत-मतांतर देखने में आते हैं, ऐसी किसी केंद्रीय धार्मिक सत्ता की स्थापना करना संभव नहीं जान पड़ता है जो इस बहुशाखावाले समाज पर पूर्ण नियंत्रण रख सके। इसलिए धर्मनिरक्षेप राज्य द्वारा ही इसका पुनर्गठन किया जाना चाहिए और केवल राज्य की चेष्टा ही से यह हिंदूसंघटन सफलीभूत हो सकता है।

वास्तव में, हिंदूसमाज के पुनर्गठन का काम लघु रूप में विधानमंडलों के साथ आरंभ हुआ जिनकी स्थापना मोंटेगु—चेम्सफोर्ड सुधारों के परिणामस्वरूप हुई थी। दोहरी शासन प्रणाली * के अंतर्गत विधाननिर्मात्री व्यवस्था में केवल आंशिक-

* ब्रिटेन की संसद ने १९२१ में एक दोहरी शासनप्रणाली का भारत में सूत्रपात किया था।

रूप से भारतीय प्रतिनिधित्व को स्थान मिला था। लेकिन यह पहला अवसर था जब भारत में इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की गयी थी और जिसे हिंदू जनसंख्या के विपुल बहुमत के लिए विधान बनाने की सत्ता प्राप्त थी। केवल आंशिक प्रतिनिधित्व होने पर भी यह कुछ महत्त्वपूर्ण अधिनियम बनाने में सफल हुई, जैसे शारदा एक्ट, जिसके अनुसार लड़कियों के विवाह की आयु बढ़ाकर चौदह वर्ष कर दी गयी है; सिविल मैरिज एक्ट, जिसके अनुसार विभिन्न जातियों के हिंदुओं के बीच विवाह की छूट मिल गयी है; और अर्निंग आफ लर्निंग एक्ट। इनमें से प्रत्येक अधिनियम ने हिंदूसमाज की आधारभूत कल्पनाओं पर आघात पहुंचाया। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार बालविवाह और हिंदू अविभक्त-परिवार एक ही खेती की उपज थे। अविभक्त-परिवार के सिद्धांत में अविवाहित पुत्रियों के अस्तित्व को बिना किसी प्रमाण के अस्वीकार कर दिया गया था। विवाह की आयु बढ़ाने की सीधी चोट इस सिद्धांत पर पड़ी क्योंकि अविभक्त-परिवार में अविवाहित पुत्रियों की संख्या ने अपने उत्तराधिकार की समस्या उत्पन्न कर दी। जिस सिविल मैरिज एक्ट के अनुसार विभिन्न जातियों के हिंदुओं के बीच अंतर्जातीय विवाह वैध हो गया है, उसने वस्तुतः हिंदू कट्टरवादिता की जड़ पर प्रहार किया है। प्राचीन हिंदू स्मृतिकारों को वर्णसंकर-दोष का भूत सताया करता था। उन्होंने इस वर्ण-घातक पाप के विरुद्ध भीषणरूप से विष-वमन किया है। निःसंदेह, ब्राह्मणों को अन्य वर्णों की स्त्रियों के साथ विवाह करने की अनुमति दी गयी थी, जो अनुलोम विवाह कहलाते थे। लेकिन, इसके विपरीत ब्राह्मण स्त्रियों के साथ अन्यवर्ण वाले पुरुषों के विवाह की कल्पना भी अत्यंत भयावह थी। ये विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाते थे।

इस प्रकार से जाति-मिश्रण का अर्थ वर्णसंकर लिया जाता था जिसके बारे में कट्टर हिंदू का दृष्टिकोण यह था कि इसके प्रचलन से हिंदू सामाजिक व्यवस्था का सत्यानाश हो जाएगा। यद्यपि विवाहेच्छुओ की पारस्परिक अनुमति पर निर्भर होने के कारण सिविल मैरिज एक्ट का प्रभाव सीमित था, फिर भी इसके कारण वर्णसंकर-दोप का निपेध करने वाले "अपरिवर्तनीय" कानून का प्रचलन भारत भर में बंद हो गया। "अर्निंग आफ लर्निंग एक्ट" ने तो अविभक्त-परिवार प्रणाली की जड़ ही खोखला कर दी। अविभक्त-परिवार का आधार यह है कि सब की आय में परिवार के सभी सदस्यों का समान अधिकार होता है। उपर्युक्त अधिनियम के अंतर्गत विद्या-सम्बंधी व्यवसाय के सदस्यों की आय पर अविभक्त सम्पत्ति नियम का लागू होना बंद हो गया। विदेशी शासन के अंतर्गत भी विधानमंडल को लोकमत के दवाब में आकर उन विपयों में हाथ डालने के लिए विवश होना पड़ा जो परम्परागत हिंदू सामाजिक व्यवस्था के लिए मूलाधार थे। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विधाननिर्माता राज्य की स्थापना ब्रिटिश काल में हो चुकी थी।

वयस्क मताधिकार से निर्वाचित होनेवाली स्वतंत्र भारत की संसद हिंदूमत की सामाजिक अराजकता को कदापि सहन न करेगी। यह बात प्रारंभ से ही स्पष्ट थी। स्वयं संविधान के वर्तमान रूप ने इस प्रकार की तटस्थता की नीति को असभव बना दिया है, क्योंकि जो निदेशात्मक सिद्धांत इसमें सम्मिलित हैं वे हिंदू सामाजिक जीवन की कुछ मुख्य आकृतियों के प्रतिकूल है। अब भारतीय संसद अपनी सामाजिक विधानरचना द्वारा हिंदूसमाज में जिस वैध और संविधानिक रूपांतर के लिए प्रयत्नशील है, उसके बड़े दूरगामी परिणाम होंगे और वह हिंदूजीवन का कायापलट कर देगा।

विधान मंडलीय शक्ति

इसलिए प्रश्न उठता है कि इस प्रकार की सामाजिक क्रांति विधानांगीय प्रक्रियाओं द्वारा कहां तक फलीभूत हो सकती है? प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि जब विधानमंडलीय शक्ति पूर्वजों से चली आ रही सामाजिक परम्परा से जा-टकराती है तब वह कितनी परिमित प्रतीत होती है। अखेनअतोन[1] से मुस्तफा कमाल के समय तक राष्ट्रों का इतिहास एक दुःखभरी कहानी का वर्णन करता है कि विधान के प्रवर्त्तन द्वारा की गयी महान क्रांतियां कैसे विफल हो गयीं? सबसे प्राचीन अभिलेख अखेनअतोन का मिलता है जिसमें उल्लेख किया गया है कि एक महान राजा ने आज्ञप्तियों द्वारा राष्ट्रीय समाज का आधार बदलने का प्रयास किया। यह प्रयास बुरी तरह विफल हुआ और उसका साम्राज्य विनष्टसा हो गया। चीन का पहला सम्राट 'चीन शीह हुवानति'[1] था और वह भी इसी प्रकार एक दृढ़प्रतिज्ञ सुधारक था। उसने अतीतकाल से सम्बंध तोडने का निर्णय किया और इस दिशा में यहां तक आगे बढ़ गया कि उसने सब प्राचीन पुस्तकों और अभिलेखों को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने का आदेश दिया ताकि लोग अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं से अनभिज्ञ हो जाएं। लेकिन परम्पराएं अपने अस्तित्व के संघर्ष में इस सम्राट् से अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुईं। सम्राट् ने जो ग्रंथ इतनी निर्ममता पूर्वक विनष्ट करवा दिये थे कि उनका कोई चिह्न तक अवशिष्ट न रह गया था वे यातो लोगों की स्मृति के आधार पर फिर लिख दिये गये या परिवर्ती पीढ़ी ने उनको मनमाने ढंग से गढ़ लिया। फ्रांस की क्रांति ने विवेक-बुद्धि के देवता को सिंहासनारूढ़ किया और मानव-अधिकार के आधार पर समाज की पुनर्व्यवस्था करनी

आरंभ कर दी। किंतु इतना आगे बढ़ने पर भी, कुछ ही वर्ष बाद, नोटरेडेम में स्वयं पोप के तत्त्वावधान में 'कैथोलिक' संस्कारों के गंभीर वातावरण के बीच फिर एक सम्राट् का राज्याभिषेक किया गया। विधान द्वारा समाज का सबसे अधिक व्यापक सुधार करनेवाला शासक संभवतः मुस्तफा कमाल था। कमाल के पंद्रह वर्ष के शासन ने तुर्किस्तान का कायापलट कर दिया। कुरान शरीफ और शरीअत की ईश्वरोक्त वाणी का स्थान नये विधान ने ग्रहण कर लिया, जिसमें समय-समय पर यथेष्ट संशोधन का अधिकार तुर्क संसद को प्राप्त है। बहुपत्नीप्रथा की समाप्ति, पर्दा के अनिवार्य परित्याग और सकल व्यवसायों में स्त्रियों के प्रवेश ने पारिवारिक जीवन को उठाकर एक नये धरातल पर खड़ा कर दिया। अरबी लिपि का स्थान रोमन लिपि ने और ढीलेढाले ओतोमन लिबास का स्थान पाश्चात्य पोशाक ने ग्रहण कर लिया। यह अभूतपूर्व ढंग की क्रांति-योजना संसदीय विधान द्वारा कार्यपरिणत की गयी। इससे भी बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय जीवन की जड़ उखाड़ने का प्रयास सोवियत संघ में किया गया जहां क्रांतिकारी विधान ने समाज का समूचा ढांचा बदल कर धर दिया।

सोवियत परीक्षण का वह पहलू उधर छोड़िए जिसके अंतर्गत परिवर्तनों का दायित्व सोवियत क्रांति पर था और उनको अक्षुण्ण रखने का भार एक प्रशिक्षित और अनुशासन-कुशल संस्था अर्थात् साम्यवादी दल ने उठा रखा है। अब इधर सोवियत संघ के विषय में एक सामान्य आलोचना यह सुनायी देने लगी है कि विधानमंडलीय कार्यवाही द्वारा सामाजिक क्रांति करने के प्रयास का अधिक-से-अधिक जो परिणाम वहां देखने में आता है उसमे यही जान पड़ता है कि यह क्रांति केवल अपने आंशिक रूप ही में सफल हुई है। अंततोगत्वा जातिगत स्मृतियों की दुर्दम्य शक्ति, परम्परा और संस्थाओं के अदृश्य प्रभावों ही की विजय हुई है और उन्होंने चुपचाप स्वयं

परिवर्तन की रूपरेखा में संशोधन कर डाला है। यह कहा जाता है कि भारत में स्वयं प्रजातंत्रपद्धति, जो वर्ण-व्यवस्था का विलोम है, जाति-पांत के प्रभाव से नये सांचे में ढल गयी है; और जिस प्रकार तुर्किस्तान में किये गये कुछ सुधारों से अभीष्ट फल प्राप्त नहीं हुआ है उसी प्रकार भारत में अस्पृश्यता का उत्सादन करनेवाले विधान से उस अश्लाघ्य सामाजिक प्रथा का अंत नहीं हो सका है।

निःसदेह, यह बात ठीक है कि विधानमंडलीय शक्ति की अपनी सीमा होती है; और कानून द्वारा जो सुधार किये जाते हैं, वे सामाजिक परम्पराओं के हथौड़े की चोटें खाकर प्रायः रूपांतरित हो जाते हैं। किंतु इसी प्रकार यह भी ठीक है कि विधान सामाजिक विकास के मार्ग में परिवर्तन उपस्थित कर देता है, और जहां कहीं यह असफल भी हो जाता है वहां इसके कारण सामाजिक ढांचा इतना तो बदल ही जाता है कि प्रतिक्रिया होने की दशा में अतीत का अपने अविकल रूप में पुनर्जीवित होना असंभव हो जाता है। बूर्बोन [1] वंश के फिर राज्यारोहण-काल में भी अधिकांशतः उस विधान का प्रचलन बना रहा था जिसका सूत्रपात फ्रांस की क्रांति ने किया था, तथा फ्रांस की प्राचीन शासन-व्यवस्था और १९वीं शताब्दी के फ्रांसीसी समाज के बीच एक न-भरने वाली खाई पैदा हो गयी थी। १७८९ में जिस समाज का विनाश हो गया था उसका पुनरुद्धार करना अठारहवें लुई, चार्ल्स और 'ह्वाइट टैरर' के लिए असंभव हो गया था। इसी प्रकार, यद्यपि कमाल अतातुर्क तुर्कों को जिस सीमा तक योरोपीय रंगढंग में बदल देना चाहता था वहां तक वह सफल नहीं हो सका, फिर भी उसने उनके सामाजिक ढांचे में इतना हेरफेर कर दिया कि उनके लिए अब

सामाजिक व्यवस्था का विशुद्ध इस्लामरूप फिर ग्रहण करना असंभव हो गया है। यदि सामाजिक परम्परा की स्मृतियां स्थायी होती हैं तो उसी प्रकार समाज में एक बार कर दिये गये परिवर्तन का प्रभाव भी अमिट बन जाता है।

जनता की सामाजिक चेतना में विधानमंडलीय शक्ति के वास्तविक विस्तारक्षेत्र के दर्शन होते हैं। यदि विधान सामाजिक प्रेरणा की परिधि के बाहर चला जाता है तो, उससे समय आने पर एक विशेष सामाजिक वातावरण पैदा करने में भले ही सहायता मिल जाए, वह अधिकांशतः प्रभावशून्य पड़ा रहेगा। दूसरी ओर, यदि जनता की सामाजिक चेतना के कारण कोई विशेष जन-संस्थाएं निष्प्राण और निरर्थक हो गयी हैं और जिन कानूनों और रूढ़ियों से उनको बढ़ावा मिलता है उन पर से वैधता की कल्पना का मुलम्मा उतर गया है, तो विधान द्वारा परिवर्तन करने के प्रयास का अर्थ इससे अधिक और क्या हो सकता है कि जो परिवर्तन पहले ही से सामने उपस्थित है उस पर विधान की केवल एक औपचारिक छाप लगा दी जाएगी। अर्वाचीन इंग्लैंड के कानून पर सार्वजनिक विचारों के प्रभाव का सुंदर विश्लेषण करते हुए प्रो. डिसे ने लिखा है कि इन गत वर्षों में ब्रिटिश संसद ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक कानून तभी पास किये हैं जबकि उनमें जो आदर्श निहित थे उनको देशवासियों का निर्णायक समर्थन पहले ही मिल चुका था। सारांश यह कि इस अवस्था में विधान सामाजिक जागृति की प्रगति के पीछे-पीछे चलता है और वास्तव में जनता जिन परिवर्तनों को पहले ही स्वीकार कर चुकी होती है यह उनपर वैधानिक छाप लगाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता है।

विधान-रचना का एक तीसरा क्षेत्र है जो आधुनिक समाज

में महत्त्वपूर्ण है, अर्थात् जहां विधान-रचना सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्वकल्पना करती है। सामाजिक प्रवृत्तियों के निरंतर विवेचन और आधुनिक दृष्टि से उपयोगी कही जानेवाली परम्परागत संस्थाओं और सामाजिक रीतियों के पुनरुद्धार की प्रक्रिया अनिवार्यतः नये वैधानिक अधिनियमों को जन्म देती है। श्रम अधिनियम, सामाजिक बीमा और बाल-सुरक्षा इस प्रकार की व्यवस्था के कुछ उदाहरण हैं। चाहे आधुनिक राज्य का कोई रूप क्यों न हो, वह इस सामाजिक सुधार-क्षेत्र में निरंतर प्रयत्नशील दिखायी देता है। वह समाज के निर्माण और संशोधन का प्रयास करता रहता है जिससे उसका प्रवाह न रुकने पाए।

हिंदूसमाज को जिस विधान की रचना करनी है वह उपर्युक्त पहली श्रेणी के अंतर्गत नहीं आता है, अर्थात् उसके द्वारा किसी क्रांतिकारी परिवर्तन को समाज पर ऊपर से थोपने का लक्ष्य नहीं है। जिस चीज की आवश्यकता है वह यह है कि जो सामाजिक विचार पहले ही से स्वीकार किये जा चुके हैं उनको विधान का परिधान पहंना दिया जाए और उनको समानरूपता देकर उनका व्यापक प्रयोग किया जाए। हम इस बात पर पहले ही बल दे चुके हैं कि हिंदू सामाजिक चेतना कुछ समय से सामाजिक ढांचे में आधारभूत परिवर्तनों के लिए व्याकुल हो रही है। उदाहरण के लिए, अस्पृश्यता-निवारण केवल हमारे राजनीतिक दलों की एक बड़ी मांग नहीं बनी रही है, प्रत्युत पिछली आधी शताब्दी में सभी जातियों के सुधारकों ने सच्ची लगन से इस प्रमुख क्षेत्र में काम किया है। कानून द्वारा स्त्रियों को सम्पत्ति-अधिकार देने और उनके विवाह कानूनों में संशोधन करने की मांगें व्यापक बन चुकी हैं। अविभक्त-परिवार के छिन्नभिन्न होने के लक्षण पहले ही से धीरे-धीरे दिखायी

देने लगे हैं, और इसके विनष्ट हो जाने से जो अवश्यम्भावी वैधानिक परिणाम सामने आएंगे उन पर नियंत्रण करने के लिए ही अब विधान बनाना आवश्यक है। सो, हिंदूमत के पुनर्गठन के लिए विधानांगीय कार्यक्रम अभी केवल उन्हीं जीवन-क्षेत्रों में चालू है जिनमें सामाजिक चेतना अभीष्ट कानूनों और विधानों की रचना से बहुत पहले ही अपने पांव जमा चुकी है।

तीसरे क्षेत्र की विधान-रचना का कार्यक्रम हिंदू संस्थाओं से कोई निश्चित सम्बंध नहीं रखता है। लेकिन हिंदू सामाजिक जीवन पर इसके दूरगामी प्रभाव पड़ेंगे। केवल एक उदाहरण से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी। सरकार के अथवा विधानमंडलों द्वारा निर्वाचित मंडली के हाथ में धर्मस्वों का नियंत्रण आजाने से समाज पर उसका दूरगामी प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। सार्वजनिक मंदिरों में सभी हिंदुओं के प्रवेश की छूट से, जो सुधार के लिए निरंतर किये गये सार्वजनिक आंदोलन का फल है, अस्पृश्यता सम्बंधी धार्मिक प्रतिबंध नष्ट हो जाते हैं। जमींदारी और जागीरदारी जैसी प्रथाओं का अंत करनेवाले कानूनों का भी गंभीर सामाजिक परिणाम निकला है। भूमिपति वर्ग हमेशा उन अपेक्षाकृत निर्धन ब्राह्मणों का भरण-पोषण करता आया था जो हिंदूमत के भीतर उपरोहित का काम करते हैं। हिंदूमत में ब्राह्मण उपरोहितों को नौकर रखने की व्यवस्था नहीं है। लेकिन भूमिपति वर्गों का सदा ही यह प्राथमिक कर्त्तव्य माना जाता था कि वे ब्राह्मणों के भोजन और संभरण का भार वहन करते रहें। भारतीय समाज में भूमिपतियों का एक प्रमुख स्थान था जिसके विनष्ट हो जाने से उन निर्धन ब्राह्मणों के विशाल वर्ग की स्थिति पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है जिन पर समाज के धार्मिक संस्कारों और शास्त्रोक्त पद्धतियों का दायित्व निर्भर है।

आधुनिक राज्य समाज के प्रयोजनात्मक संगठन की कल्पना पर आधारित है। इस राज्य का काम केवल प्रशासन करना ही नही हैं। अनिवार्यतः यह राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व करता है और उसका उद्देश्य समय की आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक शक्तियों के आकार-प्रकार को निर्धारित करने, निदेशित करने और संगठित करने का होता है। वह सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर नियंत्रण रखता है और कई अवस्थाओं मे आर्थिक कार्यकलापों में सीधा अपना हाथ डालता है। वह जनसंख्या पर नियंत्रण, मानवोपयोगी सामग्री का वितरण और निर्माणकार्य का संगठन करने का उद्योग करता है। वह सफाई-कानूनों, सार्वजनिक स्वास्थ्य-व्यवस्था तथा इसी प्रकार के अन्य सैकड़ों तरीकों द्वारा हमारी दैनिक प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करता है। जब इन सब बातों की सावधानी से समीक्षा की जाएगी तब हमें विदित हो जाएगा कि इनका हमारे सामाजिक व्यवहार और अंततोगत्वा स्वयं सामाजिक ढांचे पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जो बात सीधे विधान द्वारा नहीं की जा सकती है क्योंकि यहां उसके विरोध की आशंका होती है, वही जब नगरपालिका के कानूनों और अन्य स्थानीय विनियमों के रूप में टुकड़े-टुकड़े होकर हमारे सामने आती है तब सामान्यतः स्वीकृत हो जाती है। इससे भी बड़ी बात यह है कि जो राज्य राज-नीतिक शक्ति के क्षेत्र में पिछड़ गये हैं और जिनकी सामाजिक संस्थाओं पर मध्ययुग की झलक अब भी दीख रही है, उनमें अपने-अपने समाज को प्रगतिशील देशों के स्तर पर लाने के लिए राज्य की विधाननिर्मात्री हलचल निरंतर जारी रहेगी। विशेषकर भारत में, जैसाकि पिछले सात वर्षों के कार्यकलाप मे प्रकट होता है, राज्य सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में जीवन के

पुनर्गठन पर अधिकाधिक ध्यान देता रहेगा। यह हिंदूसमाज का सच्चा संघटन होगा।

हमें अभी हिंदूसमाज में जो विभदकारी रूप दृष्टिगोचर हो रहे है उनमें से अधिकांश का इस पुनर्निर्माण के दौर मे विलुप्त हो जाना निश्चित है। अतीत में, संसार ने वर्ग-व्यवस्था, अस्पृश्यता, विवाह के पवित्र संस्कार, अत्याचारपूर्ण वैधव्य और अन्य इसी कोटि की रूढियों को हिंदूसमाज का परिचायक बताया है। जब ये रूढियां विलुप्त हो चुकी होंगी तब क्या शेष रह जाएगा जो हिंदुओं का एक मूलजाति के रूप में दिग्दर्शन कराता रहे? निश्चय ही हिंदूधर्म और उसके अंतवर्ती संस्कार अर्थात् धर्म पर आधारित एक परिष्कृत और परिपुष्ट सामाजिक व्यवस्था, ये चीजें अन्य लोगों के बीच हिंदुओं के पृथक् रूप को बनाये रखेगीं। चाहे अधिक बच रहे अथवा केवल थोडा रह जाए, यह स्पष्ट है कि विधाननिर्माता राज्य और सामाजिक अराजकता दोनों की खिचड़ी एक साथ नहीं पक सकती। स्वयं भारतीय संविधान ने जनता के इस स्वयंभू अधिकार को मान लिया है कि वह जिन अवस्थाओं में जीवन व्यतीत करती है उनमे वह परिवर्तन कर सकती है; और चूंकि राज्यविषयक कल्पना तथा राजनीतिक सत्ता की अनुपस्थिति के परिणामस्वरूप ही हिंदूजीवन में भीषण अस्तव्यस्तता पायी जाती थी, इसलिए उसी राज्य का निर्माण और संविधान, जिसका रक्षा-कवच राज्य धारण किये हुए है, हिंदूसमाज के लिए जबरदस्त चुनौती बन गये है।

नयी शक्तियों से मुठभेड़

भारतीय संविधान में मूल-अधिकारों की घोषणा का समावेश है और कुछ निदेशात्मक सिद्धांत भी सम्मिलित हैं, जिनका प्रवर्त्तन यद्यपि न्यायालयों द्वारा नहीं हो सकता है, फिर भी उनमें उन आदर्शों की जोरदार शब्दों में घोषणा की गयी है जिनकी रक्षा के लिए राज्य कटिबद्ध है। इस प्रकार घोषित कुछ मूल-अधिकारों और अनेक निर्धारित सिद्धांतों की हिंदू सामाजिक कल्पना से सीधी मुठभेड़ होती है। संविधान में एक स्पष्ट उद्घोषणा यह भी है कि राज्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की यथाशक्ति प्रभावकारी ढंग से स्थापना और रक्षा करके जन-मंगल की वृद्धि का प्रयास करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय का डंका बजता रहे। स्वयं इस उद्घोषणा से चातुर्वर्ण्य पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का प्रतिवाद टपकता है। दूसरे शब्दों में, इसमें हिंदू सामाजिक विचारों का नितांत स्पष्टरूप से विरोध किया गया है। इसकी उन अन्य निदेशों द्वारा और आगे पुष्टि कर दी गयी है, जिनमें समान अवसर और समान नागरिक आचार-संहिता की आवश्यकता, आदि का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पहले जो सामाजिक परिवर्तन हो चुके हैं और उनसे जनता को जो लाभ पहुंचे हैं, उनको भी संविधान में सम्मिलित किया गया है।

वास्तव में, यह दावा भलीभांति किया जा सकता है कि संविधान भारतीय जनता के प्रति किया गया एक सत्यनिष्ठापूर्ण प्रण है जिसमें कहा गया है कि विधानमंडल नये सिद्धांतों के

आधार पर समाज की पुनर्रचना और पुनरुद्धार के लिए प्रत्येक संभव काम करेगा। इसलिए इस प्रण की चांप-चुभन विशेष महत्त्वपूर्ण है और सावधानी से समीक्षार्ह है।

भारतीय संविधान का सबसे अधिक उल्लेखनीय रूप यह है कि उसे वयस्क मताधिकार पर आधारित करके निःसंदेह उसमें प्रजातंत्र की पूरी-पूरी लाग-लपेट स्वीकार की गयी है। आज चार करोड़ से भी अधिक व्यक्तियों को सरकारी तौर पर परिगणित जातियों में गिना जाता है, जो कभी सामाजिक निर्योग्यताओं से जकड़ी हुई थीं। इस तथ्य पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाएगा कि वयस्क मताधिकार का सामाजिक महत्त्व उसके राजनीतिक महत्त्व से कहीं अधिक है। परिगणित जातियां भारत भर में फली हुई हैं। वास्तव में, वे हिंदूसमाज का मूलाधार हैं। उन्हें राजनीतिक सत्ता का इतना बड़ा अंश सौंपने से केवल उनकी समता की पुष्टि ही नहीं होती है, प्रत्युत उनके हाथ में एक ऐसा यंत्र आ जाता है जिससे वे अपने अधिकारों को कार्यपरिणत करा सकती हैं। वयस्क मताधिकार के अन्य परिणाम भी निकले हैं। अनेक सामाजिक गुट, जो पहले अपनी सामर्थ्य से अनभिज्ञ थे और जो संघटित राजनीतिक परिवर्तनों मे लगभग अछूते रहे थे, अचानक यह अनुभव कर उठे हैं कि वे शक्ति का उपभोग करने में सक्षम हैं। पहले 'पड़याची' सामाजिक दृष्टि से एक पिछड़ी जाति के लोग थे। इनका नाम भी थोड़े ही लोगों को मालूम था। लेकिन मद्रास विधानमंडल के १९५२-५३ के चुनाव में वे एकाएक एक अत्यंत शक्तिशाली गुट के रूप में अवतीर्ण हुए। उन्होंने सामाजिक ढोंग फैलाये, अपने को 'वह्निकुल' का क्षत्रिय बताया और राजनीतिक सत्ता में अपने भाग के अभियाचन के लिए अपने मतों की संख्या से

लाभ उठाया। वास्तव में, उन्होंने तमिल क्षेत्र में कोई कम महत्त्व-पूर्ण क्रांति नहीं की है। यह प्रक्रिया न्यूनाधिक अंशों में भारत में सभी जगह देखी जा सकती है। जो परम्परागत शक्तिशाली जातियां हैं उन्हें भी उन जातियों को स्थान देना पड़ा है जिन्होंने वयस्क मताधिकार पर आधारित राजनीतिक पद्धति में अपनी शक्ति का अनुभव कर लिया है।

सविधान का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला है कि भूतपूर्व रजवाड़ों में सामंतीय परम्पराओं का विनाश हो गया है। वर्तमान भारत संघ के लगभग आधे प्रदेश पर पहले भारतीय राजाओं का शासन था। इन रजवाड़ों में सामाजिक संघटन उन जातियों अथवा गुटों की नींव पर खड़ा था जिनका सम्बंध शासक परिवार से था। राजस्थान में राजपूत लोग राजाओं के साथ राजसत्ता में हाथ बटाते थे और अन्य जातियां, चाहे वे कितनी ही धनवान और शक्तिशाली क्यों न थीं, इन रजवाड़ों में तनिक भी प्रभाव न रखती थीं। मराठों के राज्यों में सत्ता उन्हीं की जाति के सदस्यों के पास थी। तिरुवांकुर-कोचीन में भी शक्ति मुख्यतः नायरों और राजाओं से सम्बंधित जातियों के हाथ में थी। राजाओं का तिरोधान होते ही जातिगत सत्ता का यह झंझट बात की बात में निबट गया। आज राजस्थान के मंत्रिमंडल में एक भी राजपूत नहीं है। उनकी जागीरें और ठिकाने उनके हाथ से निकल चुके हैं। वास्तव में, उनके शासक-जाति होने का स्वरूप ही आंखों से ओझल हो गया है। इसी प्रकार का परिवर्तन उस सब विस्तृत प्रदेश पर छा गया है जो कभी राजाओं के शासन के तले रौंदा जा रहा था। इसके सामाजिक महत्त्व का चित्रांकन विशेषकर अच्छी तरह तब किया जा सकता है जब यह बात समझ में आ जाती है कि उत्तर

भारत के अधिकांश रजवाड़े आद्योपांत कट्टरपंथी के गढ़ बने हुऐ थे।

साम्यवाद का प्रभाव

संविधान और उससे उत्प्रेरित राजनीतिक शक्तियों का प्रभाव निरंतर पड़ता है और लगभग अदृश्य होता है। यह स्वाभाविक और तर्कसंगत प्रतीत होता है, और इसलिए उसका प्रचंड विरोध करने की भावना उत्पन्न नहीं होती है। साम्यवाद हिंदू-समाज को जो चुनौती दे रहा है, उस पर यह बात लागू नहीं की जा सकती है। साम्यवाद का प्राथमिक उद्देश्य पूर्णतया एक नये आधार पर समाज का पुनर्गठन करना है : वह केवल उसके आर्थिक और राजनीतिक रूपों ही में परिवर्तन नहीं करना चाहता बल्कि उसके समूचे रूप को बदलना और नये सिद्धांतों पर खड़ा करना चाहता है। साम्यवादी सिद्धांत में सर्वहारावर्ग की शक्ति पर आधारित एक वर्गहीन समाज की कल्पना स्वीकार की गयी है। वह हिंदूजीवन, वर्ण-व्यवस्था, अविभक्त-परिवार प्रणाली, वैवाहिक नियम, आहार-संयम, आदि सब का विरोध करता है। वास्तव में, हिंदूजीवन का ऐसा कोई भी अंग नहीं है जिससे वह मुठभेड़ करने को उद्यत न हो। साम्यवादियों को अपने व्यक्तिगत और दलगत जीवन में उन्हीं सिद्धांतों को अपनाना और निभाना पड़ा है जो हिंदू सामाजिक जीवन के मान्य मूल्यों से प्रत्येक मोड़ पर टकराते हैं। युवकों और उग्र सुधारवादियों को साम्यवाद में एक यही आकर्षण है। वे जानते हैं कि वे जिन सामाजिक सिद्धांतों का खण्डन कर रहे हैं उनका साम्यवाद से बढ़कर और कोई घोर विरोधी नहीं है। गांधीवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद और अन्य सभी राजनीतिक दर्शन हिंदुवाद के आचार-विचार के साथ निबटारा कर लेते हैं और उनका दृष्टिकोण

"सुधारवादी" हो जाता है क्योंकि वे, कुछ विधानमंडलीय कार्य-कलाप द्वारा और कुछ सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों के प्रयोग द्वारा ही हिंदू सामाजिक संस्थाओं का रूपांतर करने की आशा रखते हैं। केवल साम्यवाद इस मामले में तनिक भी झुकने को तैयार नही है, क्योंकि वह हिंदू सामाजिक संस्थाओ का दो-टूक विरोध करता है। साम्यवादी न तो वर्ण-व्यवस्था मानते हैं और न अविभक्त-परिवार प्रणाली ही। उनके विवाह-बंधन भी हिंदुओं के सामाजिक ढांचे के बाहर है। भारत में साम्यवाद के नेता वे स्त्री-पुरुष हैं, जिनका जन्म उच्च संभ्रांत कुलों में हुआ है। इस तथ्य ने सामाजिक समस्यायों को हल करने के इस क्रांतिकारी प्रयास को वह मर्मस्पर्शी स्फूर्ति दी है जो अन्यथा इसे प्राप्त नही हो सकती थी।

अपने दल के केवल प्रत्यक्ष कार्यों ही में नहीं, प्रत्युत अपनी सभी अंतवर्ती हलचलों में साम्यवादी हिंदू सामाजिक संस्थाओं को डटकर ललकारते रहते हैं। उनका मच प्रचार का सबसे अधिक प्रभावशाली स्थल है जहां प्रत्येक अवसर पर हिंदू सामाजिक संस्थाओं को चुनौती देना उनके मंगलाचरण का पाठ बन गया है। आज साम्यवाद के फरिश्ते के बिगुल की आवाज के सामने फिलस्तीन के पौराणिक किले "जेरिको" की भांति हमारे सामाजिक किले की दीवारें धड़ाधड़ गिर रही हैं! उनके "प्रगतिशील" और साम्यवादी दोनों साहित्यों का ध्येय एक ही है। वास्तव में हिदू सामाजिक पद्धति पर उनके आक्रमण का अभिप्राय उसे बुरी तरह तहसनहस कर डालने का है ताकि फिर जो सामाजिक रिक्त स्थान हो जाए उसमें वे स्वच्छंदता से विचरण कर सकें।

हम मार्क्स के इस अभिमत को कि सामाजिक रूपों के

निर्माता आर्थिक कारण होते हैं, भले ही स्वीकार न करें, किंतु इस बात को मानने से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि आर्थिक चरणों से सामाजिक जीवन में नयी पगडंडियां बन जाती हैं। घूमते-फिरते चरवाहों और बंजारों की दिनचर्या शिकारियों और मछुवों से भिन्न तरीके की होती है। ग्रामीणों की बिरादरी जिन सिद्धांतों पर अपना सामाजिक जीवन खड़ा करती है वे उनसे भिन्न होते है जो व्यापारीयों के समाजों में प्रचलित पाये जाते है। आर्थिक जीवन के विभिन्न सिद्धांतों पर संगठित समाजों की वैध कल्पनाओं में क्या अंतर होता है, इसका विश्लेपण पाल विनाग्राडोफ ने किया है। सभ्यता की प्रगति के साथ ये रूढियां युक्तियुक्त सिद्ध हो जाती हैं। वे उन कानूनों का रूप धारण कर बैठती हैं जो राज्य या धर्म-व्यवस्था के आधार पर प्रामाणिक होने का दावा करते हैं। इस प्रकार एक ऐसी व्यवस्था का स्वतः जन्म हो जाता हैं जो आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार इन कानूनों में परिवर्तन करने में सक्षम हो। साम्यवादी राज्य में कानून परिवर्तन करने का नहीं, प्रत्युत पूंजीवादी समाज के सामाजिक संगठनों को ढाहने का निमित्त होता है। साम्यवादियों का कहना है कि पूंजीवादी समाज में सभी सामाजिक संस्थाओं का रूप पूंजीवादी हितों की रक्षा की भावना से निश्चित किया गया है। इस सिद्धांत से उत्प्रेरित होकर जहां एक ओर वे उपर्युक्त संस्थाओं पर, उनके माहात्म्य को भी अस्वीकार करके, ध्वंसकारी आक्रमण करते हैं वहां दूसरी ओर वे उस समाज को आदर्श मानकर उसका समर्थन करते हैं जो पूर्णतः मार्क्स के सिद्धांतों के अनुसार बनाया गया है।

यह सोचना केवल मन बहलाने के समान होगा कि जब हिंदू संस्थाएं बौद्ध, इस्लाम और ईसाई धर्मों का झटका झेल

गयीं, जिनमें से प्रत्येक ने अपनी बारी आने पर हिंदूसमाज की आधारभूत कल्पनाओं को अस्वीकार कर दिया था या उसको धार्मिक और सामाजिक स्तर पर चुनौती दे दी थी, तब साम्यवादी प्रहार से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन अब परिस्थितियां पूर्णतः भिन्न है। प्रतिस्पर्धी संगठन होने के नाते इस्लाम और ईसाईधर्म हिंदूमत का डटकर सामना करने में समर्थ न हो सके थे क्योंकि जो हिंदू इन धर्मों का आलिङ्गन कर लेते थे, उन्हें हिंदुओं का समाज छोड़ना पड़ता था। इसलिए इन धर्मो का आक्रमण बाहर से होता रहा और हिंदूसमाज को आत्मरक्षा में अधिक कठिनाई अनुभव नहीं हुई। जो हिंदू मुसलमान या ईसाई बन गये वे हिंदूसमाज पर भीतर से आक्रमण करने या उसमें सुधार के लिए आंदोलन चलाने में असमर्थ हो गये। साम्यवादियों ने इस कमजोरी को भांप लिया है। इसीलिए वे हिंदू सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग का तिरस्कार करने और हिंदुओं को आपस में एक धागे में पिरोनेवाली रूढियों को न मानने पर भी हिंदूसमाज के बाहर नहीं जाते हैं। जहां एक ओर वे खुलकर वर्ण-व्यवस्था, वैवाहिक रूढियों, आहार-नियमों, आदि का उल्लंधन करते हैं, वहां दूसरी ओर से वे औपचारिकरूप से हिंदूमत के भीतर बने रहते हैं। इस प्रकार के संकट का सामना करने में हिंदूमत असमर्थ है क्योंकि उसके पास लोगों में आपसी अनुरूपता बनाये रखने के लिए अभीष्ट व्यवस्था नहीं है।

औद्योगिक समाज का प्रभाव

हिंदुओं के सामाजिक ढांचे को बदलने में औद्योगिक समाज का प्रभाव भी उल्लेखनीय महत्त्व का है। वर्ण-व्यवस्था का ग्रामीण उद्योगों और दस्तकारियों से बहुत दूर तक सम्बंध है। ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था अविभक्त-परिवार प्रणाली और व्यावसायिक

जाति-व्यवस्था दोनों की जननी है। औद्योगिक समाज इन दोनों की जड़ काटता है। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि बड़े-बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में हिंदू सामाजिक ढांचा पहले ही आमूल परिवर्तित हो चुका है। अभी तक, उद्योगीकरण कुछ परिमित क्षेत्रों ही में था। इसलिए इन परिवर्तनों का प्रभाव सामान्यतः जाति पर एक सीमा तक ही पड़ा। किंतु पिछले कुछ वर्षों के विकास-कार्यक्रम, जिनमें सामुदायिक निर्माणयोजनाओं और राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के नाम उल्लेखनीय हैं, नगरों के नये विचारों को देहाती क्षेत्रों में फैलाने लगे हैं। वास्तव में, ये कार्यक्रम भारत के देहाती क्षेत्र के एक बड़े भाग को अपने अंचल में ले चुके हैं और उनको हमारे देहातों को नगरों में बदलने का प्रयास कहा जा सकता है।

गांव सभाएं गांवों का राजनीतिक रूपांतर करने में संलग्न थीं और उन्होंने अब यह काम पूरा कर डाला है। इस रूपांतर का विशेष प्रभाव देखने में यह आया है कि गांवों में नयी सामाजिक शक्तियों का आविर्भाव हुआ है और उनका परम्परागत ढांचा अस्तव्यस्त हो गया है। आज गांव सभाओं में अछूत लोग ब्राह्मणों और भूमिधरों के साथ घुटने मिलाकर बैठते हैं। अनेक स्थानों में उन वर्गों के सदस्य जो पहले सामाजिक दृष्टि से दलित कहे जाते थे, गांव सभाओं के प्रधान चुने गये हैं। इन वर्गों ने गांवों की शक्ति में हाथ बंटा लिया है, यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी यह कि पटरी समाज का अंत हो गया है जो कभी हिंदू ग्राम्य जीवन का परम्परागत अंग बन गया था। पटरी समाज, और वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-च्युति प्रथा की युगल-संस्थाओं के लोप होने से हिंदुओं के ग्राम्य जीवन में परिवर्तन हो गया है और वह उस कीचड़ से उभर आया

है जिसमें हजारों वर्षो मे फंसा हुआ था। हिंदुओं के कट्टरपंथ का मूलस्रोत सदा ही गांव रहा है। मुसलमानों और अंग्रेजों दोनों में से कोई भी इस क्षेत्र के भीतर कभी पांव नहीं मार सका। अब यह वही सुरक्षित क्षेत्र है जिस पर हल्ला बोला जा रहा है।

जो समाज उद्योगीकरण की ओर लंबी पेंगें मार रहा है उसमें दस्तकारी और परम्परागत व्यवसायों का ह्रास होना अनिवार्य है। इस स्थिति का सामाजिक ढांचे पर कई प्रकार से असर पड़ता है। भारत के गांव-गांव में लोहार, कुम्हार, बढ़ई, तेली, जुलाहे, चमार और दूसरी उद्यमी जातियां पायी जाती थीं। यद्यपि वे इधर-उधर अब भी बिखरी-पड़ी मिलती हैं, किंतु उनकी आर्थिक दशा इतनी बिगड़ गयी है कि वे संगठित जातियों के रूप में अधिक देर तक नहीं टिक सकती है। उदाहरण के लिए, आजकल फैक्टरियां मिट्टी के बर्तन बनाती हैं, जो बिकने के लिए गांवों के द्वार पर पहुंच जाते हैं। सरकार जुलाहों-तांतियों को प्रचुर आर्थिक सहायता दे रही है, जिससे उनका काम-धंधा आगे चालू रह सकता है, लेकिन सर्वसाधारण की मांग पूरी करने का कर्त्तव्य अब कपड़ा मिलों का हो गया है। अस्तु, व्यावसायिक जातियों को अब विलुप्त होने से नहीं बचाया जा सकता है।

भारत के गांवों में बिजली पहुंचने और अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्रों में बड़े-बड़े उद्योगों के फैलने से हिंदू सामाजिक जीवन पर कई प्रकार का प्रभाव पड़ा है। बिजली की शक्ति के उपयोग से गांवों में छोटे-छोटे उद्योग खुल गये हैं और इससे वे नगरों के पदचिह्नों का अनुसरण करने की ओर बढ़ चले हैं। जब किसी क्षेत्र में घर से फैक्टरी की ओर पग धरा जाता है तो समझ लीजिए कि वहां वर्ण-व्यवस्था के दिन लद गये। गांवों की

छोटी-छोटी फैक्टरियां वर्ण-व्यवस्था को मिटाने में सामान्य स्कूलों से कहीं अधिक प्रभावकारी सिद्ध होती है। इसलिए भारत के प्रत्येक भाग में उद्योगों को छिटकाने की जिस योजना पर विचार किया जा रहा है वह हिंदूजीवनपद्धति के लिए खतरा है।

उद्योगीकरण से मजदूर सगठनों की सृष्टि होती है। जहां कारखानों की स्थापना हुई कि वहां मजदूर संगठन उठ खड़े होते है। ये मजदूर सगठन हमारे समाज के परतों को तोड़ने में एक बड़ा हाथ बटाते है। मजदूरों में अधिकांश लोग छोटी जातियों के होते है। लोगों को अपना संगठन बनाने से राज-नीतिक और औद्योगिक शक्ति मिल जाती है, और धीरे-धीरे वे परिवर्तनवादी विचारों से अछूते नही रह सकते है। इसलिए भारत में मजदूरों की जागृति सामाजिक दृष्टि से दलित वर्गों की भी जागृति कही जा सकती है जो मानवता के नाते अपने अधिकार चाहते है।

आधुनिक कार्यपद्धति, यत्रकला, गमनागमन, जीवन-साधन, आदि के भी विस्फोटक रूप को भारत में भलीभांति नही समझा गया है। उनके सामाजिक प्रभाव बड़े ही व्यापक हैं। रेलगाड़ियों में जाति-पांत और खानपान सम्बंधी परहेज नहीं बरते जा सकते है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले केरल में छुआछूत का लोगों में इतना दौरदौरा था कि देह छू जाने से छूत हो जाते थे। किंतु ज्यों ही लोगों को रेलगाड़ियों से यात्रा करनी पड़ी यह छुआछूत हवा हो गयी। अस्पतालों, जहां सबको समानरूप से भरती किया जाता है, स्कूलों और कालेजों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं ने इस भेदभाव को मिटाने में सहायता की है।

विज्ञान का प्रभाव

हिंदूसमाज पर विज्ञान का भी दूरगामी प्रभाव पड़ा है। यह विचित्र बात है कि संसार के बड़े धर्मों में केवल हिंदूधर्म ही ऐसा है जिस पर विज्ञान की प्रगति का न्यूनतम प्रभाव देखने में आया है। अनेक योरोपीय प्रेक्षकों का ध्यान इस बात की ओर गया है कि हिंदूधर्म के आधारभूत सिद्धांत आधुनिक विज्ञान की अत्यंत प्रगतिशील कल्पनाओं की कसौटी पर कैसे खरे उतरते हैं? जिन विकट वैज्ञानिक विवादों ने, जिनमें खगोल विद्याविषयक 'कोपर्नीक'[1] प्रणाली और विकासवाद[1] के सिद्धांत के नाम उल्लेखनीय हैं, ईसाईधर्म के सिद्धांतों की नींव हिला दी, वे हिंदूधर्म का बाल बांका नहीं कर सके, क्योंकि उच्चतर क्षेत्र में पहुंच कर हिंदूधर्म वैज्ञानिक विश्वास का खण्डन नहीं करता है। किंतु यह बात हिंदुओं के अनेक लोकाचारों और उनकी कुछ बड़ी-बड़ी सामाजिक संस्थाओं के प्रति सार्थक नही। लोग इस तथ्य से भलीभांति अवगत हैं कि सभी जातियों में आज हिंदूजाति ही एक ऐसी है जिसकी दृष्टि में फलित ज्योतिष का सामाजिक माहात्म्य है और जो खगोल विद्या को महत्त्व प्रदान करती है। वास्तव में, ज्योतिष को हिंदूजीवन का एक आधारभूत अंग माना जा सकता है। सामान्य परिवारों की कौन कहे, उच्चशिक्षा-प्राप्त परिवारों तक में, ग्रहों की अनुकूल स्थिति के आधार पर पहले से शुभ मुहूर्त्त निश्चित किये बिना विवाह-संस्कार नहीं हो सकता है। जब तक वर और कन्या की जन्मपत्रियां मेल नहीं खाती हैं तब तक परिणय-संस्कार सम्पन्न नहीं किया जाता है। ज्योतिषी लोग जो शुभ मुहूर्त्त निकालते है, विवाह-सम्बंधी प्रत्येक संस्कार और उत्सव उसी के अनुसार परिपूर्ण किये जाते है। पढ़े-लिखे लोगों तक में भी अनेक बिना दिक्शूल

का विचार किये यात्रा आरंभ नहीं करते हैं। नेपाल[1] के कट्टरपंथी हिंदू राज्य में ग्रह-दशा विचार करके सार्वजनिक उत्सव मनाये जाते हैं। हिंदुओं का कुंभ-मेला एक ग्रह-राशि पर निर्भर होता है। कुछ प्राचीन विश्वासों के कारण सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण पुण्य-पर्व माने जाते हैं। एक बाहरी आदमी की समझ मे यह आना कठिन है कि ज्योतिष कहां तक हिदुओं के सामान्य जीवन में पैठ गयी है ? इस प्रकार के विश्वास पर विज्ञान का भारी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। जो शिक्षित पुरुष अपनी पुत्री के विवाह के लिये ज्योतिषी से शुभ मुहूर्त्त निकलवाता है वह अच्छी तरह जानता है कि ग्रह-दशा नवदम्पति के सौभाग्य पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती है। जिन राजनीतिक महानुभावों ने कुंभ के पावन अवसर पर प्रयाग में जाकर पुण्यसलिला गगा में डुबकी लगायी थी वे इस बात में विश्वास नहीं कर सकते थे कि एक विशेष दिवस पर जाह्नवी-प्रवाह मे अभिषेक करने से विशेष शुचिता प्राप्त होती है। विज्ञान ने लोगों की आंखें खोल दी हैं, और इस प्रकार के लोकाचारों में उनकी आस्था डावांडोल हो चुकी है। इस दिशा में वे अब जो कुछ करते हैं वह लीक-पीटना मात्र है। शाकाहार के नियम का हिंदूधर्म से किसी प्रकार का सम्बंध नहीं है। लेकिन अधिक उच्च जाति के लोग उसे एक धार्मिक रूढि मानकर उसका परिपालन करते हैं। जब विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पतियों में भी जीवन है और उन्हें सुख तथा दुःख का अनुभव उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पशु करते हैं, तब शाकाहार का ध्येय निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार हिंदू रूढियों और लोकाचारों पर विज्ञान का दूरगामी प्रभाव पड़ा है, और जब सर्वसाधारण में वैज्ञानिक समझबूझ उत्पन्न हो जाएगी तब यह प्रभाव और दूर तक फैल जाएगा।

विचारों का प्रभाव

विज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वयं विचार है, क्योंकि विज्ञान सदा इनेगिने लोगों के लिए बुद्धिगम्य रहता है और रहेगा। विचारों में सामाजिक संस्थाओं को ढाहने की अत्यंत भीषण शक्ति होती है। अपने निजी विचारों से उत्प्रेरित होकर जब कोई मनुष्य किसी लोकाचार पर अंगुली उठाता है या उसका उल्लंघन करता है, तब वह ऐसी शक्तियों को जन्म देता है जो किन्हीं परिस्थितियों में पहुंचकर क्रांतिकारी रूप धारण कर सकती हैं। विशेषत: रूढियों से जकड़े समाजों में विचार का प्रचार बड़ी तेजी से होता है, और विधान उन विचारों को आकृति और अनुसमर्थन देने के लिए बनाया जाता है जो जनता के हृदयों मे व्यापकरूप से पहले ही अपना घर बना लेते है। हिंदूसमाज में विचार ने अतीतकाल में भी अपने काम से मुख नहीं मोड़ा था। यह हिदू सामाजिक ढांचे के आधारों का निरंतर पुर्नविवेचन करता रहा था। किंतु जिन बातों का विश्लेषण हम पहले कर चुके है, उनके कारण इसका यही परिणाम निकला कि नये समुदाय या नये सुधारवादी पंथ पैदा हो गये। विधाननिर्माता राज्य के अभाव में, हिदू परम्परा के सामान्य अंग में किसी नये विचार को सम्मिलित करने की व्यवस्था नही थी। राजनीतिक एकता न होने के कारण भारत में सदा अनेक क्षेत्राधिकार विद्यमान रहे और किसी भी सुधार को देश भर की सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी। फलत: सुधारवादी पंथ अपने मूलस्थानों में ही परिवेष्टित बने रहे। सत्रहवीं और अठारहवी शताब्दियों में संस्कृत का अध्ययन भी पतनावस्था में था। वह भाषा अब अखिल भारतीय विचार-विनिमय का माध्यम नहीं रही थी। अतएव सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए एक सामान्य

भाषा के अभाव में और गमनागमन की असुविधा के कारण विचारों का व्यापक आंदोलन बहुत-कुछ असंभव हो गया। बाद में, उन्नीसवी शताब्दी के तीसरे चतुर्थांश में यह स्थिति वदलने लगी। पढ़े-लिखे भारतीयों को देश के कोने-कोने में अपने विचारों का प्रचार करने के लिए एक सामान्य माध्यम अर्थात् अंग्रेजी भाषा मिल गयी।

इसके अतिरिक्त, इस शताब्दी के आरंभ में स्वयं विचारों में एक क्रांतिकारी झुकाव पैदा हो गया था। इससे पहले जब हिंदू सामाजिक व्यवस्था पर आक्षेप किया जाता था तब भी उसके कट्टरपंथी रूपों को प्रायः अछूता छोड दिया जाता था, और सदैव यह दावा करने की चेष्टा की जाती थी कि इन नये विचारों द्वारा प्राचीन बातों ही का सच्चा अर्थ समझाया या प्रस्तुत किया जा रहा है। परंतु राममोहन राय और केशवचंद्र सेन की इस प्रकार के दावों की ओर रुझान नहीं थी। उन्होंने हिंदूसमाज पर, सत्ता के आधार पर नहीं प्रत्युत विवेक बुद्धि के आधार पर आक्रमण किये। यद्यपि स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपने 'सत्यार्थ-प्रकाश' ग्रंथ में परम्परागत शैली का अनुसरण करते हुए यह दावा किया था कि वह वेदों के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट कर रहे है, फिर भी उनका उपदेश, जिसमें अधिकांश हिंदू सामाजिक संस्थाओं का खण्डन किया गया है, राममोहन राय और बंगाली सुधारकों के तर्कपूर्ण उदारतावाद से कहीं अधिक क्रांतिकारी था।

यहां तक कि कट्टरपंथियों के विचार तक गतिशील हो गये थे। वेदांत के उन्नायक और हिंदू कट्टरपंथी के पुनरुद्धारक स्वामी विवेकानंद एक उग्रवादी विचारक थे जो हिंदू सामाजिक संस्थाओं की भर्त्सना करने से नहीं हिचकते थे। उन्होंने संसार के सामने यह आश्चर्यचकित गंभीर घोषणा की थी कि वर्ण-

व्यवस्था का हिंदूमत से कोई सरोकार नहीं है। उन्होंने कहा था–"बुद्ध से लेकर राममोहन राय तक सभी ने वर्ण-व्यवस्था को एक धार्मिक संस्था समझने में भूल की है......। किंतु पुरोहितों की चिल्लपों के बावजूद वर्ण-व्यवस्था केवल एक दृढ़ सामाजिक संस्था है, जो अपनी सेवा पूरी करने के पश्चात् भारत के वायु-मडल में दुर्गंध फैला रही है।" निश्चय ही विचार यहां अपन अत्यत क्रांतिकारी रूप में सामने आया है। स्वामी विवेकानंद के समय से वर्ण-व्यवस्था को कोई अपना बचाव करनेवाला नहीं मिला है। तब जो समस्या रह गयी थी वह केवल यह थी कि मलवे को साफ किया जाए और नींव पर नयी इमारत खड़ी की जाए। लेकिन जब तक भारत स्वतंत्र नहीं होता तब तक यह कैसे संभव हो सकता था? यदि "ब्रिटिश" भारत के विधानमंडल को सामाजिक मामलों के बारे में विधान बनाने के लिए उद्-बोधित किया भी गया होता तो उसका भारतीय प्रदेश के केवल ३।५ भाग पर क्षेत्राधिकार था। शेष २।५ भाग पर वंशानुगत भारतीय राजाओं का शासन था जिसमें एक को छोड़कर, अन्य सभी एक स्वर से अतीत का राग अलापने में लगे हुए थे। यह अपवाद सयाजीराव गायकवाड़ थे, जो एक सच्चे क्रांतिकारी थे। उन्होंने हिंदूसमाज की समस्याओं को पहले ही से ताड़ लिया और अपने नन्हेंसे राज्य में उनको अच्छी तरह हल करने का प्रयास किया था। किंतु अकेले सयाजीराव गायकवाड़ को छोड़कर अन्य १३० से भी अधिक राजे थे, जिनमें से अधिकांश अपने प्रदेशों में अस्पृश्यता की नींव दृढ़ करने में जुटे रहते थे। स्वतंत्रता का उदय होने से पहले, राजस्थान के अनेक रजवाड़ों मे अछूतों को उन स्कूलों में जाने तक की अनुमति न थी जिनमें अन्य जातियों के लोग पढ़ते थे। अनेक अवस्थाओं में

इन राज्यों में बाल-विवाह की अनुमति थी। जो स्त्री अपने पति का घर छोड़कर चली जाती थी, उसे एक अपराधी की भांति दण्ड मिलता था, इत्यादि। तिरुवांकुर-कोचीन और मैसूर जैसे राज्यों में समाज-सुधार ने काफी प्रगति की थी। किंतु जब तक ये रजवाड़े १९४९ में खत्म नहीं हो गये तब तक ये प्रायः समाज-विरोधी हलचल के गढ़ बने रहे।

संविधान इस तथ्य को स्वीकार करता है कि हिंदूसमाज के सुधार के लिए विधान बनाना भारतीय संसद का एक प्रारंभिक कर्त्तव्य है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद २५ का अविकल रूप निम्न है :

"२५ (१) सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य और इस अंश के अन्य उपबंधों को लागू मानते हुए, सभी व्यक्तियों को समानरूप से आध्यात्मिक स्वतंत्रता, और स्वतंत्रता-पूर्वक धर्म अङ्गीकार करने, परिपालन करने और प्रचार करने का अधिकार, प्राप्त है ;

(२) इस अनुच्छेद की कोई चीज राज्य को कोई कानून बनाने से.....नहीं रोकेगी :

(क) किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक और अन्य धर्म-निरपेक्ष कार्यकलाप, जिसका सम्बंध धर्माचार से हो सकता है, पर प्रतिबंध लगाने और नियमन करने;

(ख) सामाजिक मंगल और सुधार के लिए व्यवस्था करना अथवा हिंदुओं के सभी वर्गों और विभागों के लिए सार्व-जनिक कोटि की हिंदू धार्मिक संस्थाएं खोल देना।"

इस ओर ध्यान दिया जाएगा कि संविधान की उपर्युक्त घोषणा के कारण सामाजिक मंगल और सुधार की व्यवस्था करने के

लिए किसी विधानरचना का अधिकार विशेषरूप से सुरक्षित हो गया है। संविधान ने कट्टरपंथियों को कान खोलकर सुना दिया है कि धार्मिक स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि उन रूढियों, रीतियों और लोकाचारों का बचाव किया जाएगा जिनको जनता की सामाजिक विवेकता ने ठुकरा दिया है। इस व्यवस्था का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग यह है कि पहली बार सहिष्णुता की सीमाओं की परिभाषा बता दी गयी है। हम पहले देख चुके हैं कि हिंदूमत में धार्मिक विश्वासों और लोकाचारों के प्रति सहिष्णुता के सिद्धांत की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गयी थी। इस खण्ड द्वारा उस अवांतर भीषण दोष का निवारण कर दिया गया है।

हिंदूमत पर अन्य धर्मों और समाजों का क्या प्रभाव पड़ा है, यहां उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं। उन्होंने भारत में विचार-परिवर्तन का वातावरण तैयार करने में बहुत दूर तक मदद दी है। हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था के परकोटे के बाहर जो ईसाई और इस्लाम समाज अपने पड़ाव डाले रहे, उनके सह-अस्तित्व ने परिवर्तनों को जन्म दिया। ये परिवर्तन हमारे सामाजिक जीवन की अपेक्षा हमारे धार्मिक क्षेत्र में कहीं अधिक प्रविष्ट हो गये और उनका सबसे पहला परिणाम यह देखने में आया कि हमारे धर्म में नये-नये सम्प्रदाय फूट निकले। इसके बाद जब यह सह-अस्तित्व मथानी का काम करने लगा तब स्वयं हिंदुओं के विचारों में विलोडन पैदा हो गया। तदनंतर उनकी भावनाओं और संस्थाओं का आपसी संघर्ष धीरे-धीरे दृष्टिगोचर होने लगा।

लक्ष्य की ओर

हिंदुओं के अधकचरे जनसमूह को एक जाति में संगठित करने का काम धीरे-धीरे आगे बढ़ा है। किंतु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि उनका यह रूपांतरण जारी है। अविभक्त-परिवार और उपजाति की प्रारम्भिक कल्पनाओं को विदा करके, अब हम अपने एकल जाति के लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाते जा रहे हैं, जिसकी एकता का आधार केवल एक सामान्य संस्कृति ही नहीं, वरन् सामान्य सामाजिक संस्थाएं भी होंगी। आज एक सच्ची हिंदू भावना का आविर्भाव हो चुका है, जिसके दर्शन समय-समय पर हमें उसके नितांत अपरिपक्व रूपों में हो जाते हैं। मानते हैं कि यह घटना हिंदुओं के इतिहास में कोई बिल्कुल नयी चीज नहीं है। ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दियों में इस प्रकार की भावना विद्यमान थी जिसके दर्शन हमें पुराणों को फिर-से-लिखने, और एक नयी हिंदू विचारधारा को लेकर साहित्य-भण्डार का सृजन करने के प्रयास में होते हैं। इसके पश्चात् , उत्तर भारत की मुसलमानी विजय और दक्षिण की जनता के लिए उत्पन्न संकट के समय यह सच्ची हिंदू भावना देखने में आती है। किंतु संकटकाल की यह भावना प्रतिरक्षात्मक थी, सुधारात्मक नहीं। यह भीषण संकट का सामना करने के लिए आपस की फूट मिटाकर संगठित होने का प्रयास था। जैसा श्री केतकर ने अपनी पुस्तक "वर्ण-व्यवस्था का इतिहास" में संकेत दिया है कि गंगा के हरेभरे मैदान में हिंदूशासन के पतन से ब्राह्मणों के गौरव में भारी वृद्धि हुई। धर्मनिरपेक्ष "क्षत्रिय" शक्ति चूर-चूर हो गयी और इसके बाद ब्राह्मणों के नेतृत्व में उग्र धार्मिक प्रतिक्रिया का

आविर्भाव हुआ। वर्ण-व्यवस्था और अधिक कठोर हो गयी तथा हमारे ऊपर धर्मनिरपेक्ष राज्य का निदेशात्मक हाथ न रहने के कारण सामाजिक रूढ़ियों ने धर्म की सत्ता हथिया ली। यद्यपि हिंदू भावना अनुप्राणित हो उठी थी फिर भी वर्ण-व्यवस्था के घरफोड़कारी प्रभाव के कारण वह हिंदूजाति की वैध कल्पना का विकास करने में असफल रही।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ब्राह्मणों की भीषण प्रतिक्रिया ने उस समय हिंदूसमाज का बेड़ा डूबने से बचा लिया। जिन-जिन वर्गों ने क्षत्रियों का काम अपना लिया था उन्होंने राजनीतिक सत्ता के प्रलोभन में आकर इस्लाम से समझौता कर लिया और इस प्रकार उनके हाथ से सामाजिक नेतृत्व निकल गया। उस समय ब्राह्मणों ने जिसे धर्म समझा उसकी प्राण-पण से रक्षा की। उनके प्रभाव में आने पर हिंदूमत दिन पर दिन हाथ-पैर समेटता हुआ अपने घोंसले में जा घुसा और उसके समाज-विरोधी रूप की बेल बढ़कर छा गयी। किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि उस समय ब्राह्मण–नेतृत्व मैदान में न आया होता तो आज हिंदूमत दूसरों के हाथों सुधार या पुनरुद्धार के लिए शेष ही नहीं रह गया होता।

हिंदूजनता की राजनीतिक शक्ति विनष्ट हो जाने पर एक मुट्ठीभर ब्राह्मण उपरोहितवर्ग ने उस समय समूची देश-जाति की भरसक सेवा की जिसकी तुलना यदि संसार में कहीं हो सकती है तो उन यहूदी पुजारियों के अनुकरणीय शौर्य से की जा सकती है जो उन्होंने रोमनों द्वारा अपने मंदिर को ध्वस्त तथा यहूदी जाति को छिन्नभिन्न किये जाने के अवसर पर प्रदर्शित किया था। जब यहूदी जाति नैराश्य में डूब चुकी थी तब जोहानान बेन जाक्की[1] के नेतृत्व में यहूदी विद्वानों के एक दल

ने जबनेथ स्थान में एक विशाल विद्यामंदिर स्थापित किया, जो रोमन-अधिकृत फिलस्तीन के ठेठ बीच में स्थित था। उसने यहूदी जाति के नाम, जो संसार में इधर-उधर तितर-बितर हो गयी थी, अपने संदेश भेजे और इस प्रकार भविष्य को सौंपने के लिए यहूदी धर्म को बचा लिया। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में इसी प्रकार की अप्रतिम वीरता का प्रदर्शन ब्राह्मणों ने गंगा के हरेभरे मैदान में किया।

यद्यपि हिंदूमत के बचाव के लिए इस प्रकार की कठोर पृथक्ता की नीति आवश्यक थी, किंतु इससे उन्नति के मार्ग में सहायता नहीं मिली। प्रतिरक्षात्मक मोरचे पर धर्म को प्रति-क्रियावादी हो जाना पड़ता है, और इसलिए उस समय हिंदुत्व की भावना के विकास ने हिंदू सामाजिक जीवन के पुनर्गठन के लिए समुचित अवस्थाएं पैदा नहीं कीं।

आज स्थिति पलटा खा चुकी है। जो हिंदू भावना जन्म लेकर पनप चुकी है वह मूलतः धर्मनिरपेक्ष है, धार्मिक नहीं। वर्तमान स्थिति हिंदूमत पर किसी आंच आने के कारण पैदा नहीं हुई है, क्योंकि हिंदूधर्म ८०० वर्ष तक, इस्लाम से लोहा लेने और ईसाईधर्म का उससे कम खतरनाक किंतु अधिक धूर्तता-पूर्ण आक्रमण झेलने के बाद विजयी बनकर खड़ा हुआ है। आज हिंदूमत के लिए कोई खतरा नहीं है, और जैसा हम पहले देख चुके हैं, किन्हीं भिन्न परिस्थितियों ने उसके सामाजिक पुनर्गठन की प्रेरणा दी है। उसका धार्मिक आधार, यदि उसके पास कोई जीता-जागता धार्मिक आधार कहा जा सकता है तो यह है कि हिंदूमत की धार्मिक यथार्थताओं को चमकने दिया जाए और उन पर पुरानी धार्मिक रूढियों तथा अविवेकपूर्ण सामाजिक कुरीतियों का अंधकार न फैलाने दिया जाए।

दूसरी बात यह है कि आज जो सामाजिक चेतना फैल रही है वह किन्हीं विचारकों या किसी बड़े सुधारक के लिए विचारणीय विषय नहीं है। यहां किसी नये बुद्ध का आविर्भाव होने या कुछ वर्गों के बीच ब्रह्मसमाज जैसे किसी आंदोलन के फूट पड़ने का मामला भी नहीं है। यह मामला तो कुछ ऐसा है कि निचले वर्ग और कम अधिकार प्राप्त जन-समुदाय मिलकर उठ खड़े हुए हैं। राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण ने जनसाधारण के शरीर में नयी रूह फूंक दी है और उनके हाथ में विशेष अधिकारों या वंशानुगत असमानता पर आधारित सामाजिक संस्थाओं को ध्वस्त करने के लिए एक विस्फोटक पदार्थ दे दिया है। इन दलों के हाथ में शक्ति पहुंचने से जो भावी आशाएं बंधी हैं वे एक अत्यंत व्यापक महत्त्व की नयी चीज हैं।

इसके अतिरिक्त, देश के संघटन और आधुनिक प्राविधिक सभ्यता की सुविधाओं ने वर्तमानकालिक और बुद्ध, शंकराचार्य, कबीर तथा राममोहन राय के समय की अवस्थाओं में आकाश और पाताल का अंतर कर दिया है। उनके समय में दूरी के कारण विचारों का अखिल-भारतीय प्रतिघात होना असंभव था। इसलिए सुधार और परिवर्तन प्रायः स्थानीय चेहरे धारण करने, और पहले ही से विभक्त समाज में और विभाजन पैदा करने की ओर मुड़ पड़ते थे। अब रेलगाड़ियों, हवाईजहाजों, डाक-तार, आदि के कारण दूरी नगण्य हो गयी है। बुद्ध के कार्यकलाप की परिधि मगध की मेंड़ तक ही थी किंतु गांधीजी की हलचल देश के कोने-कोने में फैली हुई थी। शंकराचार्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पैदल जाना पड़ा और तब कहीं वह अपने सारभूत उद्देश्य को प्राप्त कर सके। आज परिवर्तन का संदेश सहस्रों

समाचारपत्रों और रेडियो तथा सिनेमा से बात की बात में घर-घर जा पहुंचता है। विशेषकर सिनेमा अप्रत्यक्ष ढंग से सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग, परिवार, वैवाहिक अवस्था, जाति, सामाजिक सम्पर्कता, आदि को अपने चित्रपट पर इस प्रकार से अंकित करता है कि उसका प्रभाव इन विषयों में लोगों की अभिरुचि बदलने के लिए अत्यंत हृदयग्राही तर्क से कहीं अधिक बलिष्ठ सिद्ध होता है। जैसाकि हम देख चुके हैं औद्योगिक केंद्रों की प्रचुर जनसंख्या ने पहले ही से वे सामाजिक समस्याएं पैदा कर रखी हैं जिनका हिंदुओं को कभी स्वप्न तक में ख्याल नहीं आया था। दैनिक जीवन की परिस्थितियों पर इन शक्तियों का जो अदृश्य प्रभाव पड़ रहा है उसके कारण तेजी से ऐसी क्रांति पैदा हो रही है जिसको वर्ण-व्यवस्था या रूढि न तो रोक ही सकती है और न जिसका प्रभाव ही सीमित कर सकती है।

विनोबा भावे के भूदानयज्ञ जैसे आंदोलन प्रबुद्ध सामाजिक अंतःकरण के दृष्टिकोण से इन समस्याओं को हल करने का प्रयास कहे जा सकते हैं। हम जिन अन्यायों को सहन करके जीवन बिता रहे हैं, उनके प्रति जाति में जागरूकता पैदा करने और उनमें जड़-मूल परिवर्तन कराने के पक्ष में वातावरण तैयार करने का महत्त्व सभी जानते हैं और इसलिए विनोबा तथा उनके सहयोगी जो कुछ कर रहे हैं वह मूलतः अतिशय विशद कार्य है। किंतु हमें अपनी समस्याओं का हल उनसे नहीं मिल सकता है। हमारी समस्या तो तभी हल हो सकती है जब राज्य लक्ष्य निर्दिष्ट करके उस पर पहुंचने के लिए दृढ़ता से कदम उठाये।

संघटित लोकप्रिय राजनीतिक हलचल से यह बात स्वयं प्रमाणित है कि समाज की व्यवस्था जनता की अभिरुचि के

अनुसार होनी चाहिए। प्रजातंत्र और अन्य शासनपद्धतियों के बीच यही महत्त्वपूर्ण अंतर होता है। एकतंत्र शासन सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने का प्रयास नहीं करता है, क्योंकि स्वयं उसकी नींव जनता की प्रबुद्ध सामाजिक भावना पर नहीं, प्रत्युत शासक की अपनी धारणाओं और इच्छाओं पर आधारित होती है। किंतु जो राज्य जनता के समर्थन पर खड़ा होता है, वह अपने विचारों के अनुसार जानबूझकर समाज की व्यवस्था करने की चेष्टा करता है।

इन रचनात्मक परिस्थितियों तथा इनसे भी बढ़कर संसार के प्रगतिशील राष्ट्रों के बीच स्थान पाने की हिंदुओं की आकांक्षा ने, जो आज भारत में एक उत्प्रेरक शक्ति प्रतीत होती है, सामाजिक क्रांति को अभूतपूर्वरूप से आवश्यक बना दिया है। संभवतः अस्पष्टरूप से, आज हिंदू अनुभव करते हैं कि उनकी सामाजिक चेतना और शक्तियों को एक निर्दिष्ट दिशा में मोड़कर उनकी सहायता से उनका एक जाति के रूप में संघटन करना तथा उनके मानस-पटल पर अंकित उनकी श्रेष्ठ नैतिक-आचारिक कल्पनाओं को मूर्तिरूप देना भारत संघ राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है। वे जानते हैं कि शताब्दियों से अब तक हिंदूसमाज एक क्षयकारी रोग के चंगुल में फंसा आ रहा है, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण शक्ति किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए केंद्रित नहीं की जा सकी है। अब वे यह भी अनुभव करते हैं कि इस रोग ने समाज के शरीर में प्रवेश करके जो उपद्रव मचाये हैं उनका केवल उपशमन करना ही पर्याप्त नहीं होगा। शरीर को स्वयं अपेक्षाकृत शक्तिशाली, स्वस्थ और ओजस्वी बनाना होगा और फिर यदि इस कायाकल्प को सफलता के शिखर पर पहुंचाना अभीष्ट है तो हमें अपनी शक्ति संचित करने के योग्य होना पड़ेगा।

विचार-दौर्बल्य, साहस और आरम्भक शक्ति के अभाव, और मनोबल के ह्रास–इन कमियों ने पिछली कुछ शताब्दियों में हिंदुओं को पतन के गड्ढे में डाल दिया था। अब इन अवांछनीय परिस्थितियों का काला मुंह तभी हो सकता है जबकि हिंदूसमाज उन्नतिशील विचारों को आत्मसात और कार्यपरिणत करने के लिए संघटित हो जाए। ये विचार हमारे समाजरूपी शरीर के लिए पौष्टिक भोजन का काम देंगे।

धर्म तथा समाज

हिंदूधर्म का सामाजिक ढांचा अब जिस अविभक्त-परिवार प्रणाली, वर्ण-व्यवस्था और रूढियों की अभेदमूलक चित्र-विचित्रता पर टिका हुआ है, यदि उनको मिटा दिया जाए या उनकी जगह कोई और व्यवस्था कर दी जाए, तो यह प्रश्न उठ सकता है कि, उस दशा में हिंदूधर्म में क्या बचेगा जिसे हिंदू नाम से पुकारा जा सके? अनपढ़ लोगों को छोड़कर, अन्य सभी लोगों में बहुदेवोपासना पहले ही से विलुप्त है। यदि यह सामाजिक ढांचा भी छिन्नभिन्न कर दिया जाता है तो फिर संभवतः हिंदू-धर्म में उन अगम्य दार्शनिक कल्पनाओं के एक लघु समुच्चय के अतिरिक्त और क्या शेष रह जाएगा जो माया और कर्म के अन्योन्याश्रित सिद्धांतों द्वारा प्रतिपादित "अद्वैतमत" से अनुप्राणित होती हैं? अनेक हिंदू तत्त्वदर्शी आज भी हिंदूधर्म का इतना ही अर्थ लगाते हैं। हमारी पीढ़ी के एक प्रज्ञात्मा भारतीय, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने अपनी "हिंदूइज्म, डॉक्ट्रिन एण्ड वे ऑफ लाइफ" नामक पुस्तक में वेदांत मत का अभिप्राय इससे अधिक नहीं बताया है। यदि हिंदूधर्म का यही सर्वांगीण रूप है, तो स्पष्टतः वह जनता का धर्म, अर्थात् लोकधर्म नहीं हो सकता है, क्योंकि इस दशा में वह, आत्मीय विकास के अनुरूप, प्रत्येक पुरुष के लिए अपनी व्यक्तिगत निष्ठा का विषय बन जाता है, और उसके अंतर्गत, आत्मसंयम और कर्म द्वारा ज्ञान का उदय होने पर उसे मोक्ष-प्राप्ति का स्वप्न भले ही दिखने लगता हो, वह उसके लिए आध्यात्मिक आहार प्रस्तुत नहीं करता है। इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि श्री राजगोपालाचार्य

ने जिन सिद्धांतों की पांडित्यपूर्ण व्याख्या की है, वे हिंदूमत के आवश्यक अंग हैं। किंतु हिंदूदर्शन इतने ही से निःशेष नहीं हो जाता है। गीता तक में भक्तिमार्ग का उल्लेख किया गया है; किंबहुना, सभी धार्मिक सम्प्रदाय वेदांत के मूलतत्त्व को ग्रहण करते हुए अपने उपदेशों में उसके शुष्क ज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करते दिखायी देते हैं। हिंदूसमाज के सम्यक् पुनर्गठन के बाद, यदि केवल वेदांत ही शेप रह जाएगा तो मेरे विचार से केवल एक दार्शनिक पृष्ठभूमि और मोक्ष-के-सिद्धांत से परिष्कृत समाज की प्रस्थापना करने की अपेक्षा इसी समाज को अपनी वर्तमान अवस्था में अक्षुण्ण छोड़ देना ही अति अधिक श्रेयस्कर होगा। उसमें कितनी ही न्यूनताएं क्यों न खटकती हों, फिर भी उसके पास एक जीती-जागती निष्ठा है। उसके पास बहुमूल्य और उज्ज्वल पौराणिक कथाओं का भण्डार है जो अनेक मौलिक यथार्थताओं से भरपूर है। उसके अपने प्रतीक और शास्त्रोक्त पद्धतियां हैं जिनका समस्त जनता की भावनाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सुतरां, हिंदूधर्म कोई एक दर्शन नहीं है, न यह विपुल विचारधाराओं का संगम-मात्र है। इसकी पुष्टि स्वयं श्री राजगोपालाचार्य ने अपने अन्य अनेक ग्रंथों में की है। सौभाग्यवश, यह इन सबसे अधिक उत्तम है। यह एक धर्म है जो मानव जीवन के प्रत्येक अंग को सहारा देता है; और हिंदूमत के विधि-विधान में रूपांतर करने तथा उसकी रूढियों को मिटाने से उसके धर्म पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ेगा। यदि पड़ भी सकता है तो वह इतना ही होगा कि एक व्यक्ति फटे-पुराने और मैले-कुचैले वस्त्र फेंककर उनकी जगह स्वच्छ और नये वस्त्र पहन ले।

हिंदूमत की सामाजिक संस्थाओं का न तो हिंदूधर्म के बाह्य रूप से अटूट सम्बंध है और न उसके अभ्यांतरिक रूप ही

से। धर्म के अभ्यांतरिक रूप – उसकी आचार-नीति, उसका लोक-दर्शन एवं कर्म, ज्ञान और भक्ति के मार्ग से साक्षात्कार के सिद्धांत—का रूढियों, बाह्याडम्बरों, सामाजिक रूपों और वैयक्तिक कानूनों से, जो हिंदुओं में प्रचलित हैं, किसी प्रकार का सम्बंध नहीं है। इस बात का कोई खण्डन नहीं करेगा कि यदि आज कानून द्वारा अविभक्त-परिवार प्रणाली का अंत कर दिया गया होता अथवा वर्ण-व्यवस्था का अनुशीलन करना बंद हो जाता तो इसका हिंदू धार्मिक विचारों पर प्रभाव पड़ा होता। निदान, यहां प्रश्न हिंदूधर्म के सिद्धांतों ही का नहीं है, प्रत्युत हिंदूमत के बाह्याडम्बरों, उसकी पूजा-अर्चना के सार्वजनिक स्वरूपों, उसके त्यौहारों उसकी संस्कार-पद्धतियों और उसके संयम-नियमों अर्थात् आचार-व्यवहारों का है। ये बातें किसी भी धर्म के लिए एक सर्वमान्य सिद्धांत-गुटका की भांति आवश्यक हैं। यह कहा जा सकता है कि विवाह-कानूनों में परिवर्तन करने से परिवार के दृढ़ बंधनों में शिथिलता आजाएगी और वर्ण-व्यवस्था भंग कर देने से कम-से-कम कुछ समय के लिए सामाजिक अस्तव्यस्तता फैल जाएगी। इन विचारों को काफी व्यापक अनुसमर्थन प्राप्त है, इसलिए इन पर सावधानी से दृष्टिपात करना आवश्यक है।

सामाजिक परिकल्पना परिवार की जननी है, धार्मिक परिकल्पना नहीं। स्वयं हिंदूपद्धति के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के परिवार देखने में आते हैं। उसमें पैतृक और मातृक दोनों प्रकार की प्रणालियां हैं। कुछ प्रणालियां विवाह के पुनीत संस्कार पर निर्भर हैं और कुछ रूढियों पर। हिंदूविधान में तलाक का निषेध बताया जाता है। किंतु भारत में इधर-उधर बिखरी हुई बहुत सी बिरादरियां हैं जो धर्म के नाम पर हिंदूमत के भीतर होने का दम भरती हैं और रूढि के आधार पर विधवाओं का

पुनर्विवाह करने की अनुमति देती हैं। पर उनके हिंदूमतावलम्बी होने पर इससे कोई खुरच नहीं आती है। हम पहले इस ओर इंगित कर चुके हैं कि कुछ पक्के कट्टरपंथी ब्राह्मण कुल के लोग अपनी बहिन की संतति के साथ विवाह कर लेते हैं। इस प्रकार का विवाह हिंदूशास्त्रकारों की वैवाहिक परिकल्पना की दृष्टि से नितांत घृणित माना जाता है। निष्कर्ष यह है कि हिंदुओं में कोई ऐसी सामाजिक संस्था नहीं है जिसे इतनी सर्वमान्यता प्राप्त हो कि उसके आधार पर उसे निश्चयपूर्वक हिंदूमत का अंग बताया जा सके।

मंदिरों की पूजा, प्रधान पर्व, विभिन्न सम्प्रदायों और पंथों के दृश्य प्रतीक, मठ, गद्दियां और आश्रम, संन्यास तथा वे सभी बातें जिनका सम्बंध हमारे धर्म के बाह्य रूपों से है और जो हिंदूमत को अन्य धर्मों से पार्थक्य प्रदान करती हैं, बनी रहेंगी और किसी सामाजिक सुधार का या हिंदू कानूनों में रूपांतर होने का उन पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। दार्शनिकों और तत्त्ववेत्ताओं का विश्वास या उपदेश कुछ भी क्यो न हो, हिंदूमत का यही एक रूप है जो उसे कोरा तत्त्वज्ञान न बनाकर धर्म का लौकिक स्वरूप प्रदान करता है। धर्म में लोकजीवन की उपेक्षा और बाह्य रूपों का बहिष्कार करके केवल तत्त्वदर्शन पर विशेष बल देने से हिंदूमत की आत्मा का विनाश हो जाएगा। दार्शनिकों की उस दीर्घ परिपाटी में 'कॉमटे'[1] ही अंतिम दार्शनिक था जिसको यह विश्वास था कि केवल दार्शनिकता के आधार पर आचार-नीति का विकास किया जा सकता है— श्री राजगोपालाचार्य भी इस भ्रांति के चंगुल में फंस गये जान पड़ते हैं। हिंदूमत की अपनी उत्कृष्ट व्याख्या में उन्होंने वेदांत को हिंदूमत के समकक्ष खड़ा कर दिया है और उसे आचार-नीति

का उच्चतम शील मानकर उसका उपदेश किया है+। लेकिन वेदांत के सर्वोच्च तत्त्वदर्शी शंकराचार्य और रामानुजाचार्य का अभिमत इससे भिन्न था। अद्वैतवाद के अधिष्ठाता शंकराचार्य शाक्तमत के सुधारक भी थे। उन्होंने इसमें रूपांतर किया। उन्होंने देवी की उपासना की नूतन पद्धति को 'समयाचार' का नाम दिया और भाव-मुग्ध होकर अनेक सुंदर स्तोत्रों की रचना की। उन्होंने स्पष्टतः अनुभव किया कि उपासना और सिद्धांत दोनों ही धर्म के समान महत्त्वपूर्ण अंग हैं। उपासना में प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति की विवेकशक्ति के अनुरूप ध्यान, शास्त्रोक्त पूजा-अर्चना और अन्य आध्यात्मिक संयम-नियम सम्मिलित हैं, और सिद्धांत सदसत् विवेक-बुद्धि पर आधारित हैं। जहां तक रामानुजाचार्य का सम्बंध है, उनका दृष्टिकोण इस बारे में और भी स्पष्ट था। प्रसंगवश प्रो. के. वी. रंगास्वामी अय्यंगर ने लिखा है: "जिस ज्ञानवादी दार्शनिकता ने स्वच्छंद आत्मा के गुण-स्वभाव का नाम-निरूपण किया था उसमें रामानुजाचार्य ने एक धार्मिक पक्ष का समारोपण करके उसकी आध्यात्मिक भावना को विस्तृत लोकग्राह्य रूप प्रदान कर दिया।"

इससे स्पष्ट हो जाएगा कि यदि सामान्य विधानांगीय प्रक्रिया द्वारा हिंदुओं के सामाजिक मूल्यों में फेरफार कर दिया जाए और उनकी धर्मनिरपेक्ष संस्थाओं में सुधार किया जाए तो उसका हिंदूधर्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हमारे समाज का कैसा भी आकार-प्रकार क्यों न हो, हमारे धर्म के बाह्य और अभ्यांतरिक दोनों रूप हमारी आचार-नीति और हमारे जीवन

+ यद्यपि यह आलोचना "हिंदूइज्म, डाक्ट्रिन एण्ड वे आफ लाइफ" के सम्बंध में सही है किंतु श्री राजगोपालाचार्य ने अपने अन्य अनेक ग्रंथों में हिंदू-धर्म का विशद निरूपण किया है।

का निरंतर निर्माण करते रहेंगे। इसका कारण यह है कि हमारे धार्मिक विश्वास, चाहे हमारा समाज किसी भी सांचे पर क्यों न ढाला जाए, उसके द्वारा सदा कार्यप्रवृत रहेंगे।

संक्षेप में, धर्म और समाज का आपसी सम्बंध संस्थाओं विशेष पर, चाहे वे कितनी ही प्राचीन क्यों न हों, निर्भर नहीं होता है, क्योंकि संस्थाओं से किसी विशेष समय के विचारों का प्रतिबिम्ब मिलना अपरिहार्य है। केवल जिन सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक शक्तियां काम कर सकती हैं, वे जब आत्मसंरक्षण, सर्वकालिक पुनर्विवेचन और पुनर्निर्माण के त्रिसूत्रीय सिद्धांत की ओर अभिमुख नहीं रहती हैं तब अवनति आरंभ हो जाती है और धर्म का सत्य रूप सामाजिक कलेवरों से पृथक् हो जाता है। जिन अवस्थाओं पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं उनके कारण हिंदू सामाजिक संस्थाओं, विशेषकर हिंदू कानून और रूढि को निरंतर क्रमबद्ध करने का काम पिछले १५०० वर्षों में रुका रहा। हमारे सामाजिक विकास पर इसका भीषण दुष्प्रभाव पड़ा है। हमारे धर्म पर भी इसका कुछ कम भीषण दुष्प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि हमारी जीर्ण-शीर्ण सामाजिक संस्थाओं ने हमारी धार्मिक यथार्थताओं के उज्ज्वल प्रकाश को मलिन कर दिया है। हमारे धार्मिक सिद्धांतों और हमारी सामाजिक रीतियों में इतना स्पष्ट विरोध हो गया कि अनेक आलोचक, जिनमें लब्धप्रतिष्ठ, भारतीय तत्त्वचिंतक भी सम्मिलित हैं, यह कहने लगे कि स्वयं हिंदूधर्म हिंदू सामाजिक जीवन की बुराइयों का जिम्मेवार है।

हिंदूधर्म की झांकी उसके समानता के आधारभूत सिद्धांतों, लोकसंग्रह के उद्देश्यात्मक कर्म, स्वार्थ में अनासक्ति और मानव के सदाचारपूर्ण जीवन में देखने को मिलती है। हिंदूधर्म को उचितरूप

से समझने के लिए हिंदुओं की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को इसके साथ मिश्रित नहीं करना चाहिए। ज्यों ही एक बार यह अंतर समझ में आ जाएगा, हमारे धार्मिक सिद्धांतों और सामाजिक रीतियों के बीच जो विरोध इस समय प्रतीत होते हैं वे न तो हमारी धार्मिक निष्ठा को शिथिल कर सकेंगे और न हमारे धार्मिक सिद्धांतों के बारे में भ्रम उत्पन्न कर सकेंगे।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष हो जाएगा कि स्वयं धर्म की हित-रक्षा की दृष्टि से हिंदू सामाजिक जीवन का पुनर्गठन आवश्यक है। प्रायः धर्म का रूप केवल सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रकाश में आता है। दुर्भाग्य की बात है कि जिन संस्थाओं द्वारा हिंदूधर्म को प्रकाश में आना पड़ा और जिन संस्थाओं के साथ इसकी चिन्हानी की गयी, वे जनता के जीते-जागते सामाजिक अंतःकरण का नहीं, प्रत्युत एक बहुत पीछे छूट गए अतीतकाल की निष्प्राण भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती थीं। हिंदू कट्टरवादिता इस भ्रम में पड़कर सामाजिक सुधार का मार्ग रोक रही है कि उसका यह कृत्य हिंदूधर्म की रक्षा और 'कुछ ऐसी वस्तु का विरोध कर रहा है जो सनातनधर्म का उन्मूलन करने पर उतारू है। इस प्रकार वह अपने हाथों अपने पैर कुल्हाड़ी मार रही है।

उपसंहार

प्रारंभ में कहा जा चुका है कि प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय का दिग्दर्शन कराना अभीष्ट है कि यदि हिंदूजनता मानवजाति की एक प्रभावशाली शाखा के पद पर फिर प्रतिष्ठित होना चाहती है तो उसे ऐसी सामाजिक इकाई के रूप में संघटित होना चाहिए जिस पर उसकी नैतिक कल्पना के अनुरूप कानूनों का नियंत्रण रहे। इसके अतिरिक्त ये नयी संस्थाएं ऐसे आकार-प्रकार की होनी चाहिए जिससे उनमें हमारी परिवर्तनशील आवश्यकताओं की समीचीनता के अनुसार निरंतर उलटफेर किया जा सके। संक्षेप में, हिंदुओं को, जो ऊटपटांग रीति से निर्मित सामाजिक गुटों में बिखरे पड़े हैं, एकल जाति के रूप में सुगठित हो जाना चाहिए। यह तभी संभव है जब हम यह आदर्श अपने सामने निश्चित कर लेंगे कि हमें सम्पूर्ण जनता के शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक जीवन की उन्नति की ओर निरंतर बढ़ना है। हिंदू सामाजिक जीवन की परिकल्पना में एक जाति के भाव को ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि यह जीवन विभाजन पर आधारित है, एकता पर नहीं। किंतु पिछले कुछ दशकों में नये विचारों ने हिंदूजीवन में प्रवेश किया है, और इस्लाम तथा ईसाईमत से लोहा लेने एवं पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने के कारण हिंदू हृदय में जाति-भावना का संचार हो गया है। गत वर्षों में हिंदू चेतना में वृद्धि करने वाली एक नयी और संभवतः उतनी ही महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि हिंदू जनसमूहों का एक राजनीतिक संघटन बना और उन्होंने देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में भाग लिया। उस समय

कोई इस बात को नहीं भांप सका था कि प्रजातंत्र पर आधारित राजनीतिक स्वतंत्रता के उदय होने पर स्वयं कट्टरवादिता के बोरी-बिस्तर बंध जाएंगे। जनता की राजनीतिक हलचल का नमूना गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस के रूप में सामने आया। इस जन-जागृति ने दो बातें पैदा कर दीं, जिनमें से प्रत्येक कट्टर-वादिता के लिये भयावह थी और दोनों मिलकर उसकी जड़ उखाड़ फेंकने के लिए पर्याप्त थीं। पहली बात यह थी कि हम जान गये कि कांग्रेस भले ही एक धर्मनिरपेक्ष और अ-साम्प्रदायिक संघटन होने के नाते भारत को एक बहुजातीय समाज समझती हो, किंतु भारतीय जनता (जिसमें विशाल बहुमत हिंदुओं का है और वे उसके अविचल आधार हैं) राजनीतिक दृष्टि से एकल जाति है। चाहे वह एकल भारतीय जाति हो या बहुजातीय समाज, इस सब का अभिप्राय यह था कि हिंदू सामाजिक जीवन में, बाहर से लाकर, संघटन के एक नये सिद्धांत को स्थान दिया जाए जो चातुर्वर्ण्य पर भी नहीं, प्रत्युत एकल हिंदूजाति की परिकल्पना पर आधारित हो।

दूसरी बात यह थी कि जैसा हम पहले कह चुके हैं कि राजनीतिक जन-जागरण का सबसे पहला उद्देश्य स्वतंत्र भारत के लिए प्रजातंत्रीय आदर्श को अपनाना था। और इसका अर्थ यह था कि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि समाज की व्यवस्था में मानव की आवश्यकताओं के अनुकूल निरंतर हेरफेर किया जा सकता है। जनता-जनार्दन द्वारा स्थापित प्रजातंत्र के हाथ में उस अनंत शक्ति के होने का दावा किया जाता है, जिसके उपभोग का विचार—विशेषतः सामाजिक क्षेत्र में, राजा और सम्राट् तक नहीं कर सकते थे। प्रजातंत्र का एक सामाजिक रूप भी है जो ऊपर से देखने में भले ही न आए,

किंतु वह उसका आंतरिक स्वाभाविक अंग बन गया है। उसकी शक्ति का स्रोत जनता है। और, यदि जनता एक बार अपने सामाजिक उद्देश्यों के प्रति जागरूक हो जाती है तो फिर अपनी मुक्ति के लिए सोलहो आने तुल जाती है। यह बात भारत-जैसे देश पर और भी अधिक लागू होती है जहां एक राष्ट्रीय जन-आंदोलन ने निचले वर्गों को राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए एक चौथाई शताब्दी से भी अधिक काल तक प्रोत्साहित किया है। यदि जन-आंदोलनों को शक्तिशाली और राजनीतिक दृष्टि से प्रभावशाली बनाना था तो निश्चय ही राष्ट्रीय कार्यक्रम में सामाजिक मुक्तीकरण को एक महत्त्वपूर्ण स्थान देना था। इसलिए हिंदुओं को एक संगठित जाति के रूप में खड़े करने की जो उत्कट भावना हमारे हृदयों में घर कर गयी है वह हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की देन है।

नयी सामाजिक भावनाओं को अंकुरित करने में जिन अन्य दो बातों ने योगदान किया है उनका भी उल्लेख यहां किया जा सकता है। अंग्रेजों ने भारत में जिस शिक्षापद्धति का सूत्रपात किया था वह धर्मनिरपेक्ष थी और वह अपने अस्तित्व के लिए किसी दैवागम सत्ता पर निर्भर होने का प्रतिवाद करती थी। इस समय जो सामाजिक विचार पढ़े-लिखे भारतीयों में फैले उनका प्रेरणा स्रोत जॉन स्टुअर्ट मिल[1] और हरबर्ट स्पेंसर[1] तथा अन्य हेतुवादी विचारक थे जिनकी विचारपद्धति में धर्म और परम्परागत सिद्धांतों को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। जो व्यय का भार उठा सकते थे उन सबके लिए जाति-पांत या सामाजिक हैसियत का भेदभाव किये बिना आंग्ल-भारतीय शिक्षा का द्वार खुला पड़ा था। इस प्रकार पढ़े-लिखे वर्गों के भीतर हिंदू संस्थाओं के सामाजिक मूल्यों का व्यापकरूप से खण्डन किया जाने लगा।

वस्तुतः कट्टरपंथियों को एक सुविधा प्राप्त थी। वे दावा करते थे कि भारत का कोई इतिहास नहीं है। इसलिए नयी रूढियों पर प्राचीन सत्ता की छाप लगा दी जाती थी। किंतु ज्यों ही विद्वानों ने गवेषणा करके हिंदूमत की सामाजिक उन्नति और राजनीतिक विकास का इतिहास फिर क्रमबद्ध कर दिया त्यों ही उनका यह भ्रमपूर्ण दावा समाप्त हो गया। जो संदर्भ पवित्रता के नाम पर अब तक तर्क से अछूते रहते थे वे भी समालोचनाओं की कसौटी पर कसे जाने लगे। उदाहरण के लिए, यह खोज द्वारा निश्चित किया गया कि 'मानवधर्म-शास्त्र' उतना प्राचीन नहीं है जितनी उसके बारे में कट्टरपंथियों की धारणा है; और अनेक स्मृतियां बाद में गढ़ ली गयी हैं। वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था प्रचलित न थी– इस रहस्योद्घाटन ने उस वितंडावाद को लगभग शांत कर दिया जो उसके ईश्वरोक्त व्यवस्था होने का ढोल पीटा करता था। इसी प्रकार कट्टर-पंथी बाल-विवाह को भी एक धार्मिक प्रथा बताते थे। किंतु छानबीन करने पर उनके इस दावे की भी पोल खुल गयी कि यह प्रथा महाकाव्यों के रचनाकाल के समय में प्रचलित नहीं थी।

इतिहास के पुनर्निरूपण ने, इसी प्रकार, व्यापकरूप से प्रचलित अनेक रूढियों की पवित्रता के भवन गिरा दिये हैं। इतिहासकारों की अविश्रांत गवेषणाओं ने यह प्रदर्शित करने में सहायता की है कि जब हिंदू एक शक्तिशाली और प्रगतिशील जाति थे तब, जिन सामाजिक कुप्रथाओं का धर्म पर आधारित होने का अब दावा किया जाता है, उनमें अनेक की बूझ तक न थी। उदाहरण के लिए, अभी तक लोगों का यह विश्वास था कि हिंदूधर्म के अनुसार समुद्रपार की यात्रा करना वर्जित है। जिन लोगों ने इस रूढि के उल्लंघन का दुःसाहस किया ब्राह्मणों

ने उनसे प्रायश्चित्त करवाया और यहां तक कि उदारदलीय राजनीतिज्ञों को भी अन्य महाद्वीपों की यात्रा करने की पाप-निवृत्ति करनी पड़ी। अभी कुछ वर्षों की बात है कि कोचीन और तिरुवांकुर के महाराजा उन व्यक्तियों को मंदिरों में घुसने की आज्ञा नहीं देते थे जो योरोप के देशाटन से लौटकर आते थे। अब ऐतिहासिक अनुसंधानों ने इस प्राचीन विश्वास का भण्डाफोड़ कर दिया है। जावा, सुमात्रा, स्याम, कम्बोज आदि देशों में कभी भारतीय साम्राज्य स्थापित थे। प्राचीन काल में अनेक भारतीय विद्वानों का समुद्र के मार्ग से चीन जाने का उल्लेख मिलता है। इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जब भारत को राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त थी तब हिंदुओं द्वारा समुद्री यात्रा करने पर कोई प्रतिबंध न था।

अब विधवा-विवाह जैसी रूढियों पर विचार कीजिए। अभी तक विधवा-विवाह को हिंदूधर्म के विरुद्ध माना जाता था। किंतु हमारे पास इस बात का अकाटच ऐतिहासिक प्रमाण है कि चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपनी विधवा भावज से विवाह किया था। रामायण में भी नि:संतान विधवा भावज से विवाह करने की रूढि के प्रचलन का स्पष्ट साक्ष्य मिलता है। जब राम कंचनमृग पर मोहित होकर उसका पीछा करते-करते दृष्टि से ओझल हो गये थे तब सीता ने कुछ मर्म-वचन कहकर[1] लक्ष्मण को उन्हें ढूंढने के लिए भेजा था।

कट्टरपंथी लोगों की जिह्वा पर एक स्वर्णयुग की कथा प्राय: विराजमान रहती थी। किंतु उनकी इस कथा से स्वयं इस बात का अनुसमर्थन हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत सदा ही मान्य बना रहा है। अतीतकाल में एक स्वर्ण-युग था। दूसरे शब्दों में इससे यह तात्पर्य निकलता है कि वर्तमान

अध:पतन का काल है: अर्थात् भूतकाल की आदर्श अवस्थाओं से हम नीचे गिरे हुए हैं। इसलिए अपरिवर्तनीय सामाजिक व्यवस्था और स्वर्णयुग की कल्पनाएं परस्पर-विरोधी और बेमेल हैं। सामाजिक अध:पतन सामाजिक प्रतिगमन के सिद्धांत की अपेक्षा करता है और प्रचलित कानूनों और रूढ़ियों की उपादेयता पर फिर से विचार करने का निमंत्रण देता है।

इन तथा अन्य बातों ने उस नयी सामाजिक भावना को प्रोत्साहन दिया है जिसने हिंदूसमाज का रूप अदृश्य रीति से बदल दिया है। ऑगस्ट कॉमटे ही ने मानव जीवन के शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक अंगों का भौतिक अवस्थाओं से अभिन्न सम्बंध बताया है। परिवर्तित भौतिक अवस्थाओं और मानसिक जागृति के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव ने जाति की उदीयमान भावना और समाज की वर्तमान विभाजनग्रस्त व्यवस्था के पारस्परिक विरोध को हमारी आंखों के सामने खोलकर रख दिया है। वास्तव में, भारत में सामाजिक चेतना लोकाचार से आगे बढ़ी हुई है। यह बात निर्विवादरूप से इस तथ्य से प्रभावित हो जाती है कि सामाजिक कुप्रथाओं से उत्पन्न होनेवाली दुरवस्थाओं का उपचार करने के लिए जो आंदोलन चलाये गये हैं उनमें उच्चतर वर्णों के हिंदुओं को ही अधिकतम परिश्रम और आत्मबलिदान करना पड़ा है।

जब लोकचेतना जागृति की परिधि पर पहुंच जाती है है, जब जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों के दुष्प्रभावों के विरुद्ध व्यापक क्षोभ, प्रकट किया जाता है, अथवा जब साधारण समाज, रूढ़ियों की ऊपर से लीपापोती भले ही करता रहे, वास्तव में उनके प्रचलन की अवहेलना करने लगाता है, तब प्रभावशाली सामान्य विधान के निर्माण के लिए द्वार खुल जाता है। इस पुस्तक का

यही प्रतिपाद्य विषय था कि हिंदुओं को एक जाति के रूप में संगठित करके खड़ा करने का जो विचार अभी तक हमारे मस्तिष्कों ही में हिलोरें मारता रहा है उसे अब कानूनों में संशोधन करके एक साकार-रूप देना संभव हो गया है क्योंकि जहां एक ओर हिंदू मस्तिष्क जाग उठा है, वहां दूसरी ओर हमारे पास एक विधाननिर्मात्री प्रभावशाली व्यवस्था भी विद्यमान है जो सर्वसाधारण से आज्ञापालन और उस विधान को कार्यपरिणत कराने में सक्षम है। अकेले विधान से समाजों में क्या सुधार किया जा सकता है? क्या अकेला चना भाड़ फोड़ सकता है? यह उक्ति सम्भवतः सत्य है। लेकिन यहां इस समय परिस्थिति में एक महत्त्वपूर्ण अंतर दिखाई देता है। जहां सामाजिक चेतना पहले ही से परिवर्तन की आवश्यकता में विश्वास करने लगती है, वहां विधान इस प्रकार के परिवर्तनों का मार्ग प्रशस्त कर सकता है, उनका रूप निश्चित कर सकता है और, कहां तक लिखा जाए, उनको निरंतर चालू रख सकता है।

यह भी सत्य है कि कानून द्वारा समाजों में एकबारगी परिवर्तन कर देने से समाजों को जो अनुभव उपलब्ध होता है वह विधान द्वारा सम्पन्न क्रांति में निष्ठा की भावना को दृढ़ रखने के लिए यथेष्ट नहीं होता है। जब विधान को कार्य-परिणत करनेवाली किसी राजकीय सत्ता का अपना अस्तित्व चिरस्थायी रहा है और उसने जिस सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया है वह स्वयं पंगु नहीं हो जाती, प्रत्युत उसमें निरंतर हेरफेर होते रहते हैं तब इस दशा में क्रांतिकारी सामाजिक व्यवस्थाएं भी काफी समय तक टिकाऊ बनी रही हैं। वास्तव में, इसे कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि जनता के सामाजिक विकास को सुदृढ़ करनेवाली अप्रतिहत विधानांगीय

हलचल कभी भी इतिहास की रूपरेखा निश्चित करनेवाली एक शक्ति बन गयी है। आरम्भ में हिंदू कानून क्या था? उसके बारे में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि जब उसको संहिता का रूप दिया गया तब उसमें अपने समय की विभिन्न सामाजिक भावनाओं को संग्रहीत और एकीकृत किया गया? तदनंतर वही कानून समय-समय पर विभिन्न आलोचकों द्वारा प्रस्तुत किये गये संशोधनों के साथ हमारे सामने आता रहा। यह वही कानून है जिसे वर्तमान हिंदूजीवन का हाड़-मांस कहा जा सकता है। शिकायत यह नहीं है कि हिंदू कानून में परिवर्तन नहीं हुआ है, प्रत्युत यह है कि जो परिवर्तन हुए हैं वे छिन्नभिन्न या स्थानीय रूप में सामने आये हैं और व्यापकरूप में किसी सामाजिक चिंतनप्रणाली पर आधारित नहीं रहे हैं। जो विधान हिंदूसमाज का पुर्नानिर्माण कर सकता है उसका उद्देश्य केवल अतीत की भांति सामाजिक कुरीतियों में सुधार करने या अप्रचलित रूढियों में परिवर्तन करने का नहीं प्रत्युत कानून की शर्तों के भीतर हिंदू विचारों की उन्नति को परिपुष्ट करने का होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि इस समय की सामाजिक भावनाओं को विधि-विधानों के रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए।

संस्थाओं में समीचीन और सामयिक रूपांतर करना राज्य का प्राथमिक कर्त्तव्य है। अपने ढांचे में संशोधन और सुधार करने की व्यवस्था प्रत्येक समाज के पास होती है। धार्मिक संस्थाओं में रोमन कैथोलिक चर्च पक्की अपरिवर्तनवादी संस्था है। फिर भी उसके पास सदा एक ऐसी व्यवस्था बनी रही है जो हवा का रुख देखकर परिवर्तनों को ग्रहण करती आयी है। एकूमेनीकल कौंसिलें',[1] 'कूरिआ'[1] और स्वयं पोप इन परिवर्तनों

की सतत व्यवस्था करते रहते हैं। वास्तव में, यह एक प्रगतिशील समाज का गुण है। हिंदूमत में, दुर्भाग्यवश इस प्रकार की कोई व्यवस्था अभी इन कुछ वर्षों से पहले तक देखने में नहीं आयी थी।

अब हिंदुओं की आंखें खुल गयी है कि जब तक सामाजिक परिवर्तनों की पीठ पर कानून का हाथ नहीं होगा तब तक सुधार की दिशा में किये जानेवाले प्रयत्नों से केवल नयी-नयी गड़बड़ी पैदा होती जाएगी। वास्तव में, हिंदुओं के बीच जो सामाजिक अराजकता दिखायी देती है उसका जितना दोष आपस में दीवरें खड़ी करनेवाली वर्ण-व्यवस्था पर है उतना ही अतीतकाल के स्थानीय और क्षेत्रीय मनोवृत्तिसूचक अनियंत्रित सुधारों पर भी है।

आज हिंदूसमाज को अपने इतिहास में एक अभूतपूर्व चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। यह है स्वराष्ट्र की सत्ता जिसे विधानरचना की सर्वशक्ति प्राप्त है और जो हिंदू संस्थाओं को नये विचारों के समकक्ष खड़ा करने की इच्छा से ओतप्रोत और उत्प्रेरित है। एक बार इस आंदोलन के चल पड़ने की देरी है कि यह फिर नहीं रुक सकता। कभी अधिक या कभी कम हलचलों के समय आ सकते हैं; किंतु यह परिवर्तन नित्य धारावाही होगा क्योंकि सामाजिक मूल्यों में अविराम उथलपुथल होती रहेगी और विधान द्वारा उसको कार्यपरिणत करने की अनवरत आवाज उठती रहेगी। विधाननिर्माता राज्य और प्रवाहहीन समाज साथ-साथ नहीं रह सकते है। इसके अतिरिक्त भारत में भारी आर्थिक क्रांति फैल रही है, जिसके परिणामों की पूर्वकल्पना करना असम्भव है। निःसंदेह उससे नयी सामाजिक शक्तियों का आविर्भाव होगा, जिनकी झलक हमारे भावी

सामाजिक विधान में और हमारे नये समाज के रचनाक्रम में दिखायी देगी। इससे स्पष्ट है कि इन सामाजिक शक्तियों के पुनरुद्धार से हिंदू जीवन की भलाई ही होगी और वह अपेक्षाकृत सुव्यवस्थित अवस्था में पहुंच जाएगा। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि इस पुनरुद्धार से हिंदूधर्म को संसार के धर्मों के बीच अपने सम्मानित पद पर फिर प्रतिष्ठित करने में सहायता मिलेगी।

टिप्पणियां

नलयिनी (पृष्ठ–३४) विद्वान लेखक ने यहां जिस सती का उल्लेख 'नलयिनी' नाम से किया है उसकी कथा 'मार्कंडेयपुराण' की लोकविख्यात सती शिरोमणि शांडिली से मिलतीजुलती जान पड़ती है, जिन्होंने अपने पतिव्रत के प्रभाव से सूर्य का उदय होना रोक दिया था। बाद में कहीं अनुसुइया के बीच में पड़ने से शांडिली का पति फिर जीवित हुआ था और सूर्य फिर आकाश में चमकने लगा था।

आखेन-अतोन (पृष्ठ–५६) 'अखेन-अतोन' प्राचीन मिस्र देश का राजा (१३७५ वर्ष ईसापूर्व) था। इस 'फारोआह' (राजा) ने देश के सभी देवताओं की पूजा बंद करवा दी और 'अतोन' अर्थात् संपूर्ण विश्व को प्रकाश देनवाले और सबके आराध्य सूर्य की पूजा प्रारंभ करवायी। पुरोहितों ने विभिन्न देवताओं की पूजा बंद कराने का तीव्र विरोध किया।

चीनशीह हुवान ति (पृष्ठ–५६) 'चीन शीह हुवान ति' (तीसरी शताब्दी ईसापूर्व) वस्तुतः चीन का प्रथम सम्राट् था। उसने छिन्नभिन्न देश का संगठन किया और उसे एक राष्ट्र का रूप दिया। उसके प्रताप का सूर्य उदित होने पर छोटे-छोटे राजे अस्तंगत हो गये। उसने लुटरों को सेना में भरती करके उनसे सफलतापूर्वक सैनिकों का काम लिया था। उसने अनेक सुधार किये।

बूर्बोन (पृष्ठ–५८) हेब्सबर्ग, बूर्बोन (फ्रांस) स्टुअर्ट, हनोवर, आदि मध्यकालीन योरोप के प्रसिद्ध राजवंश थे।

कोपर्नीक (पृष्ठ–७४) सोलहवीं शताब्दी में योरोप में कोपर्नीक नामक एक पोल ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर

घूमती है। इससे पहले यूनानी खगोलविद्या-विशारद तोलेमी का सिद्धांत माना जाता था कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है। किंतु भारत के विख्यात विद्वान आर्यभट्ट ने पांचवीं शताब्दी ही में यह अनुसंधान कर लिया था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है।

विकासवाद (पृष्ठ–७४) विकासवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन करनेवाले, ब्रिटेन के चार्ल्स राबर्ट डार्विन (१८०९–८२) थे। उनके इस विचार ने कि मानव का पूर्वज कपिमानव था, विचार-जगत में क्रांति उत्पन्न कर दी है।

नेपाल और ज्योतिष (पृष्ठ–७५) गत २ मई १९५६ को महेंद्रवीरविक्रम शाह देव नेपाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। काठमांडू में यह समारोह ज्योतिषियों के गणनानुसार शुभ मुहूर्त्त पर और शास्त्रोक्त पद्धति से संपन्न किया गया।

जोहाननि बेन जावक्की (पृष्ठ–८२) लगभग ७० ई० में जब रोमनों का फिलस्तीन पर कब्जा था तब यहूदियों ने विद्रोह कर दिया और कुछ समय के लिए यरूशलम पर उनका अधिकार हो गया। उस समय रब्बी जोहानान बेन जाबक्की यहूदियों का एक विख्यात धार्मिक नेता था, किंतु उसने न तो विद्रोह ही में साथ दिया और न तत्कालीन राजनीति में कोई दिलचस्पी ली। उसने समझ लिया कि यहूदियों का मुख्य देवालय अब विनष्ट ही होनेवाला है। इसलिए उसने 'जबनेह' स्थान में जाकर यहूदीधर्म और विद्या का एक केंद्र स्थापित किया जो आगे चलकर यहूदी सभ्यता की सुरक्षा के लिए मेरूदंड सिद्ध हुआ।

कॉमटे (पृष्ठ–९१) फ्रांस के भौतिकतावादी आगस्ट कॉमटे ने उन्नीसवीं शताब्दीमें एक वैज्ञानिक की भांति इतिहास की व्याख्या करने की कोशिश की। उनका कहना था कि ईसाई धर्म अपना ऐतिहासिक पार्ट अदा कर चुका है और उसके स्थान में अब मानवता के धर्म की आवश्यकता है।

जॉन स्टूअर्ट मिल (पृष्ठ–९७) जॉन स्टुअर्ट मिल उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन का प्रकांड अर्थशास्त्री और विचारक था। वह निजी उद्योगों और पूंजी का घोर समर्थक था।

हरबर्ट स्पेंसर (पृष्ठ–९७) ब्रिटेन के हरबर्ट स्पेंसर ने "बलिष्ठ-अतिजीविता" के सिद्धांत को संसार के समक्ष प्रस्तुत किया जो जरमन विचारकों– शोपेनहोर और नीत्से के हाथ में पड़कर मानवोपरि शक्ति-संपन्न पुरुष की परिकल्पना में परिणत हो गया।

सीता के वचन (पृष्ठ–९९) यह प्रसंग 'अध्यात्म रामायण' में देखिए।

एकूमेनिकल कौंसिल (पृष्ठ–१०२) संसार में जगह जगह कैथोलिक धर्म के नेताओं की जो परिषदें बनी हुई हैं उन्हें 'स्कूमेनिकल कौंसिल' कहते हैं। ये चर्च-संगठनों और धार्मिक सिद्धांतों पर विरचा-विनिमय करती हैं। इन कौंसिलों की आज्ञप्तियों पर जब पोप की छाप लग जाती है तभी वे अनुल्लंघनीय मानी जाती हैं।

कूरिया (पृष्ठ–१०२) पोप की राजसभा को 'कूरिआ' कहते हैं। यह न्याय और प्रशासन-सम्बंधी संस्थाओं का समुदाय है जिनके द्वारा पोप चर्च-व्यवस्था का संचालन करता है। इसे आधुनिक भाषा मे पोप का सचिवालय कहा जा सकता है। इसके अंतर्गत (१) न्याय अधिकरण और कार्यालय तथा (२) कार्डीनलों की सभा के स्थायी मंडल होते हैं। आजकल ये मंडल ही न्याय-अधिकरणों और कार्यालयों के बहुत से काम करतेहैं। दूसरे शब्दों में ये पोप और कार्डीनलों की सम्मिलित सभा के अंतवर्ती उपांग है।